गद्य चयनिका

डा. निजाम उद्दीन
डा. भूषण लाल कौल

गद्य चयनिका

[कश्मीर विश्वविद्यालय द्वारा टी० डी० सी० फाइनल के पाठ्यक्रम में निर्धारित पाठ्य-पुस्तक]

सम्पादक

डॉ० निजाम उद्दीन
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इस्लामिया कॉलेज, श्रीनगर

डा० भूषणलाल कौल
हिन्दी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२

बिक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

प्रथम संस्करण : १९७७

मूल्य : ५·००

मुद्रक : कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा–२

[२/३/७७]

दो शब्द

अहिन्दी भाषी क्षेत्र की विभिन्न कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में निर्धारित की जाने वाली हिन्दी की पुस्तकों से विद्यार्थी एवं शिक्षक एक विशेष प्रकार की प्रादेशिकता की अपेक्षा रखते हैं। यह उचित भी है और इसकी सीमाएँ भी हैं, जिनके अतिक्रमण से शिक्षण के स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ने की आशंका होती है। इसके साथ ही यह भी अनुभव किया जाता है कि अहिन्दी भाषी क्षेत्र के शिक्षकों के पाठ्यक्रम में योगदान को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, कश्मीर विश्वविद्यालय की हिन्दी पाठ्यक्रम समिति ने सर्व-सम्मति से निर्णय किया था कि कश्मीर के हिन्दी शिक्षकों द्वारा पुस्तकें तैयार करवाई जायें और उन्हें पाठ्यक्रम में निर्धारित किया जाय। इसी निर्णय के परिप्रेक्ष्य में यह पुस्तक प्रस्तुत की गई है।

आशा है इससे छात्रों एवं शिक्षकों को संतोष मिल सकेगा।

रमेशकुमार शर्मा
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
तथा
संयोजक, हिन्दी पाठ्यक्रम समिति
कश्मीर विश्वविद्यालय,
श्रीनगर, कश्मीर।

इस संकलन में जिन विद्वानों की रचनाएँ संकलित की गई हैं उनके प्रति हम कृतज्ञता व्यक्त करते हैं एवं रचना संकलित करने की अनुमति दाताओं के भी आभारी हैं ।

—सम्पादक द्वय

For questions

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव
गुरु नानक की भक्ति दृष्टि
सोना हिरनी
[illegible] के [illegible]वाद

15 marks.

Ref :- 20 marks.

विषय-सूची

भूमिका

संकलन

परिशिष्ट

भूमिका भाग

भूमिका

हिन्दी गद्य का विकास

गद्य का स्वरूप

मनुष्य अपने भावों, विचारों और अनुभूतियों आदि को भाषा के माध्यम से दूसरों तक सम्प्रेषित करता है। भावों, विचारों आदि की अभिव्यक्ति या तो गद्य में होती है या पद्य में। गद्य में हम उस जनभाषा का प्रयोग करते हैं जो हमारे जीवन में प्रयुक्त होती है जबकि पद्य मे हम रागात्मक भावों को अभिव्यक्त करते हैं। गद्य का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है और पद्य का हृदय से। इस प्रकार मस्तिष्क की अभिव्यक्ति—चिन्तनप्रधान विचारों की अभिव्यक्ति गद्य साहित्य कहलाता है, और रागात्मक, संवेदनशील मनोभावों की अभिव्यक्ति पद्य या काव्य कहलाता है। 'गधं कवीनाम् निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य कवियों की कसौटी है, तो भी गद्य में अपने विचारों को सरसता से प्रकट किया जा सकता है। गद्य की भाषा सरल, सुबोध और व्यावहारिक होती है। इसके विपरीत काव्य की भाषा में लय, तुक, प्रवाह, भाव-भंगिमा, उक्तिवैचित्र्य, सांकेतिकता, आलंकारिकता अधिक होती है। गद्य में जहाँ सुबोधता और सहजता अनिवार्य है, वहाँ पद्य में संवेदनशीलता और रागात्मकता का तत्त्व अधिक होता है। गद्य की भाषा पद्य की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित और व्याकरण-सम्मत होती है। लेकिन आन्तरिक मनोभावों को सांकेतिक तथा सूक्ष्म रूप में प्रकट करने के लिए पद्य का ही आश्रय लिया जाता है।

हिन्दी गद्य का उद्भव

हिन्दी गद्य का प्राचीनतम रूप राजस्थानी तथा ब्रजभाषा में प्राप्त होता है। कहा जाता है कि मुगल दरबारों में किस्सागोई बहुत आम थी, फलस्वरूप राजपूतों के महलों में भी किस्सागोई साहित्य का प्रचलन हुआ जो उस समय

की राजस्थानी गद्य में लिखा गया। दसवीं शताब्दी में दानपात्रों, पट्टे-परवानों, टीकाओं, इतिहास, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, गणित आदि में राजस्थानी गद्य का स्वरूप परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से सन् १८४७ में रचित 'पंचाख्यान' (फतहराम वैरागी) महत्त्वपूर्ण रचना है।

ब्रजभाषा १४वीं शताब्दी में साहित्य की सर्वमान्य भाषा थी। सन् १३५० में गोरखपंथी ग्रन्थ जैसे 'गोरख-गणेश गोष्ठी', 'महादेव गोरख-संवाद' और 'गोरखनाथ की सोलह कला' आदि प्रकाश में आ चुके थे। सबसे पहले गोरखपंथी साहित्य में ही गद्य के दर्शन होते हैं, और ब्रजभाषा के इसी गद्य को हम हिन्दी-गद्य का आदि रूप मान सकते हैं फिर भी उसके मौलिक रूप के बारे में सप्रमाण कहना कुछ कठिन ही है क्योंकि गोरखपंथी रचनाओं की प्रामाणिकता में संदेह किया जाता है। लेकिन १६वीं शताब्दी तक ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप निखर चुका था। कृष्णभक्ति शाखा के कुछेक आचार्यों द्वारा गद्य-रचनाएँ प्रस्तुत की जा चुकी थीं। गोसाईं विट्ठलनाथ का 'शृंगार-रस-मंडन' नामक ग्रन्थ में अव्यवस्थित गद्य का रूप दृष्टिगत होता है। दो वार्ता-ग्रन्थों में ब्रजभाषा गद्य का रूप कुछ व्यवस्थित है; 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता'। इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता थे गोसाईं गोकुलनाथ। ये दोनों ग्रन्थ परिमार्जित गद्य में और व्यावहारिक शैली में लिखे गये हैं तथा ब्रजभाषा के गद्य-विकास की एक कड़ी हैं। इन ग्रन्थों का धार्मिक महत्त्व अधिक था, साहित्यिकता की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। नाभादासकृत 'अष्टयाम' (सं० १६६०), वैकुण्ठमणिकृत वैशाख-माहात्म्य' व 'अगहन-माहात्म्य' (सं० १६८०), सूरतमिश्रकृत 'वैताल पचीसी' का अनुवाद (सं० १७६७), हीरालालकृत 'आइन-ए-अकबरी की भाषा वचनिका' (सं० १८५२) आदि ब्रजभाषा गद्य के स्वरूप को विकसित करने वाले ग्रन्थ हैं। इस गद्य की विशेषता यह कि इस पर ब्रजभाषा-पद्य का प्रभाव अधिक है अरबी-फारसी-शब्दों का भी काफी प्रयोग किया गया है। आगे चलकर रीतिकाल में जो ब्रजभाषा-गद्य का रूप प्राप्त होता है वह टीकाओं एवं कारिकाओं तक ही परिसीमित रहा। इन टीकाओं की भाषा कृत्रिम और कठिन थी। परिष्कृत भाषा का अभाव था। १७वीं शताब्दी में खड़ीबोली का प्रभाव बढ़ने लगा और ब्रजभाषा गद्य का विकास अवरुद्ध हो गया।

मुसलमानों का शासन स्थापित होने के पश्चात् उस क्षेत्र में एक बोलचाल

की व्यावहारिक तथा सुगम भाषा का शनैः शनैः विकास हो रहा था। इसी भाषा को अमीर खुसरो ने अपनी पहेलियों और मुकरियों में खड़ीबोली के रूप में व्यवहृत किया। आगे चलकर यही खड़ीबोली कबीर के हाथों पड़कर और विकसित हुई। अकबर के दरबारी कवि गंग ने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' ग्रन्थ खड़ीबोली में रचा। उसमें अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग काफी किया गया। सं० १७९८ में रामप्रसाद निरजनी ने 'भाषा योग-वाशिष्ठ' संस्कृत शब्दावली से युक्त खड़ीबोली में रचा। उनकी यह एक प्रौढ़ गद्य-रचना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि खड़ीबोली मुसलमानों के हाथों पड़कर फारसी-अरबी शब्दों से संयुक्त होकर 'उर्दू' के रूप में जन्मी तथा विकसित हुई और खड़ीबोली आगे बढ़ते-बढ़ते आज की हिन्दी के रूप में पल्लवित तथा संवर्धित हुई।

आधुनिक गद्य

अंग्रेजों के शासनकाल में कलकत्ता में सन् १९६० में 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना की गई। यहाँ हिन्दी, उर्दू के अध्यापन की व्यवस्था थी और हिन्दी भाग का प्रभारी जान गिल क्राइस्ट को बनाया गया था। वस्तुतः उन दिनों अंग्रेजों को शासन कार्य के लिए एक सर्वमान्य भाषा का सहारा लेने की आवश्यकता थी। यह कालेज खड़ीबोली गद्य में पुस्तकें तैयार करने के लिए आरम्भ किया गया। उस समय चार साहित्यकारों ने हिन्दी गद्य की पुस्तकें तैयार कीं। अंग्रेजी राज्य से प्रेरित होकर हिन्दी ग्रन्थ तैयार करने वाले थे—(१) सदल मिश्र, (२) लल्लूलाल; और स्वतन्त्र रूप में ग्रन्थ रचने वाले थे—(१) सदासुखलाल, (२) इंशा अल्ला खाँ।

मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' ने 'सुखसागर' नामक ग्रन्थ की रचना की। उनकी भाषा में पडिताऊपन अधिक था, शुद्ध संस्कृत तत्सम शब्दों की भरमार थी, कुछ पूर्वी शब्दों का प्रयोग भी किया गया था। संस्कृत शब्दों की अधिकता के कारण उर्दू वाले उनकी भाषा को 'भाखा' कहते थे। चारों लेखकों में मुंशी जी की भाषा सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है।

इंशा अल्ला खाँ ने सन् १७९८ से १८०३ के बीच 'उदयभान चरित' और 'रानी केतकी की कहानी' नामक ग्रन्थों की रचना की। इंशा स्वभाव से स्वच्छन्द और मनमौजी थे और उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि भी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में हिन्दी का प्रयोग करते हुए इस आदर्श को सामने रखा—"हिन्दवी

छुट और किसी बोली की पुट न"। वह न तो भाषा को अरबी-फारसी-निष्ठ बनाना चाहते थे और न संस्कृत-निष्ठ बनाना चाहते थे। इंशा की भाषा में विदेशी शब्दों का बहिष्कार मिलता है। वह ठेठ खड़ीबोली है। पद्यात्मकता, और चटकीले मुहावरों की प्रधानता है शुक्ल जी के अनुसार इंशा की भाषा 'रंगीन और चुलबुली' है। लेकिन लेखक अपनी भाषा को फारसी से बिल्कुल मुक्त नहीं कर सका। उनकी अपनी भाषा और शैली है, उसमें मौलिकता की कमी नहीं।

लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर की। उनकी भाषा ब्रजभाषा से अधिक प्रभावित है, लेकिन उन्होंने अपनी भाषा को संस्कृतनिष्ठ बनाने का ही प्रयत्न किया था। वाक्य लम्बे हैं, उसमें अनुप्रास की छटा देखने योग्य है। लेकिन वह व्यावहारिक भाषा नहीं कही जा सकती। उनकी भाषा भक्तों की कथावार्ताओं के अधिक अनुकूल थी। उन्होंने ब्रजभाषा गद्य में भी सिंहासन बत्तीसी, वैताल-पचीसी, शकुन्तला आदि का अनुवाद भी किया था और एक प्रेस भी आरम्भ किया था जिससे कई पुस्तकें प्रकाशित की गईं।

सदलमिश्र ने कालेज के अधिकारियों के आदेश पर 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रन्थ रचा। उनकी भाषा लल्लूलाल की भाषा से अधिक व्यवस्थित है। सदलमिश्र की भाषा में कुछ पूर्वीपन अवश्य है, लेकिन ब्रजभाषा का अधिक प्रभाव नहीं, दूसरे उसमें प्रवाह अधिक है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी खड़ीबोली के स्वरूप को स्थिर करने में इन चारों लेखकों का योगदान विशेष महत्त्व रखता है, उन्होंने इस भाषा को एक नया मोड़ दिया। मुंशी सदासुखलाल की भाषा का व्यवस्थित और परिमार्जित रूप उल्लेखनीय है। भविष्य की हिन्दी भाषा ने बहुत कुछ उन्हीं से ग्रहण किया है। इन चार लेखकों के पश्चात् बहुत वर्षों तक हिन्दी भाषा का प्रवाह अति मन्द हो गया। चार-पाँच दशकों तक कोई भी उल्लेखनीय ग्रन्थ हिन्दी में नहीं लिखा गया। वह समय देश की स्वतन्त्रता-आन्दोलन के आरम्भ का समय था। देशवासियों में स्वदेश प्रेम और स्वभाषा-प्रेम की भावना जोर पकड़ने लगी थी। उधर अंग्रेजों ने भी अच्छी तरह पैर जमाकर अपने ईसाई धर्म का प्रचार करने में जुट गये थे।

ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दी गद्य का प्रसार कार्य अधिक व्यापक रूप में किया गया। यद्यपि वह अपने स्वार्थ के कारण ऐसा कर रहे थे, लेकिन यह हिन्दी के लिए सौभाग्य की बात थी। उन्होंने खड़ीबोली में बाइबिल का अनुवाद कराकर उसका प्रचार किया। इस प्रकार ईसाई-मत के प्रचार के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार-कार्य भी परिसम्पन्न हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शिक्षा योजना के अन्तर्गत 'स्कूल बुक सोसाइटीज' की स्थापना की तथा छापेखाने प्रारम्भ किये। ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार से हिन्दू धर्म की रक्षा का प्रश्न भी उपस्थित हो गया। राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना इसी उद्देश्य से की। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की और 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। उन्हीं दिन हिन्दी में 'बंगदूत' और 'उदन्त मार्तण्ड' नामक समाचार पत्र हिन्दी में प्रकाशित किये गये।

हिन्दी के बढ़ते प्रचार-प्रसार को देखकर अंग्रेजों ने अदालत की भाषा फारसी के स्थान पर हिन्दी की स्थापना की जिससे मुसलमानों को आपत्ति हुई। सर सैयद खाँ भी विरोध करने वालों में थे। परिणामतः अदालत की भाषा उर्दू कर दी गई और इस कारण उर्दू के प्रति लोगों की रुचि बढ़ने लगी। लेकिन हिन्दी बिलकुल ही समाप्त नहीं हो गई, बल्कि उसकी गति रुकने के बजाय तीव्रतर होने लगी उसमें एक नई शक्ति का संचार होने लगा।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (१८२३-१८९५) और राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६) ने शुद्ध खड़ीबोली का व्यवहार किया। उनकी भाषा में उर्दू या अंग्रेजी शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं था, वह शुद्ध संस्कृत शब्दावली से युक्त भाषा थी। यह समय हिन्दी के लिए बड़े संघर्ष का था। उर्दू का बढ़ता प्रचार हिन्दी की गति को रोकने लगा। उर्दू का पढ़ना जहाँ अनिवार्य समझा जाने लगा, वहाँ हिन्दी का बहिष्कार करने के लिए लोगों ने असफल प्रयास आरम्भ किये। फ्रांसीसी लेखक 'तासी', ऐसे ही विद्वान थे। वह फ्रांस में बैठे हिन्दी का विरोध कर रहे थे। उन्होंने 'हिन्दुस्तानी भाषा का इतिहास' भी सबसे पहले लिखा था। ऐसे समय सितारे हिन्द और राजा साहब ने हिन्दी की डावांडोल स्थिति को संभालने का प्रशंसनीय कार्य किया। सितारे हिन्द शिक्षा विभाग में इन्स्पेक्टर थे और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। राजा साहब भी उसी प्रकार हिन्दी के शुद्ध रूप के पक्षपाती थे। 'शकुन्तला' नाटक

में उनकी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का रूप दृष्टिगोचर होता है। उन्हीं दिन फेडरिक पिन्काट नामक एक अंग्रेज विद्वान ने हिन्दी का बलपूर्वक समर्थन किया। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिन भारत में बिताये और हिन्दी की अथक सेवा करते रहे। वह प्रभावशाली हिन्दी लिखते थे, दूसरों को भी हिन्दी लिखने की प्रेरणा देते थे। हिन्दी विद्वानों से उनका अच्छा सम्पर्क था। बाबू नवीनचन्द राय ने पंजाब में हिन्दी के प्रचार का कार्य भी उसी काल में अपने हाथ में लिया। वह उर्दू वालों को मुँहतोड़ जवाब देकर हिन्दी के पक्षधर बने रहे। 'ज्ञान प्रदायिनी' नामक एक पत्रिका भी उन्होंने हिन्दी में निकाली और हिन्दी में कई ग्रन्थों की रचना की। पंजाब के दूसरे विद्वान पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी हिन्दी में 'सत्यामृत-प्रकाश' नामक पत्र प्रकाशित करके हिन्दी सेवा में लगे हुए थे। वह ओजस्वी भाषा लिखते थे और उनके निरन्तर प्रयत्नों के द्वारा पंजाब में हिन्दी का काफी प्रचार हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों की रचना हिन्दी में ही की और उनकी धार्मिक क्रान्ति से जहाँ देश में नवीन चेतना का उदय हुआ वहाँ हिन्दी भाषा का प्रचार भी अत्यधिक हुआ। अनेक स्थानों पर "दयानंद वैदिक स्कूल" स्थापित किये गये जिनके द्वारा उत्तरी भारत में हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित हुआ।

हिन्दी गद्य का उत्थान-काल

हिन्दी का उत्थान उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय चेतना के अभ्युदय के साथ साथ आरम्भ हुआ। हिन्दी क्षितिज पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। वह अद्‌भुत प्रतिभा और प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे। उनकी रचनात्मक प्रतिभा के द्वारा हिन्दी गद्य का साफ-स्वच्छ, निखरा हुआ रूप सामने आया। उन्होंने अपनी भाषा में जहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों को स्थान दिया वहाँ लोकप्रचलित देशज और तद्‌भव शब्दों को भी ग्रहण किया। इस प्रकार उन्होंने भाषा के क्षेत्र में मध्यमार्ग को अपनाया। भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे। उनका आविर्भाव हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए किसी वरदान से कम न था। उन्होंने समाज में एक नई साहित्यिक चेतना को जन्म दिया। वह स्वयं में एक संस्था थे। उनकी प्रतिभा से हिन्दी में विविध विषयों यथा नाटक, उपन्यास, इतिहास, भूगोल, धर्म, पुराण, निबन्ध, पुरातत्त्व आदि पर ग्रन्थ रचे गये। इस प्रकार नवीन विषय और भावनाएँ देने में उनका श्रेय स्मरणीय

है। उनकी प्रेरणा से हिन्दी-जगत में कई-एक महान साहित्यकारों का अभ्युदय हुआ। श्री निवासदास (१८५१-१८८७), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४), प्रतापनारायण मिश्र (१८५१-१८९४), राधाचरण गोस्वामी (१८५०-१९२५), बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३) आदि साहित्यकार भारतेन्दु मण्डल के ही हैं। ठाकुर जगमोहनसिंह ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने स्वच्छन्दतावादी शैली को अपनाया। उनकी मौलिक देने को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु-युग का गद्य अत्यन्त व्यवस्थित और आकर्षक है। सभी लेखकों में भाषा का जीवंत और सजीव रूप विद्यमान है। वे बड़े ही जिंदादिल साहित्यकार थे, ऐसे साहित्यकार थे जिनमें भाषा के गौरव के साथ राष्ट्रीय गौरव की भावना भी असीम थी। इनकी शैली में ऐसा नवीन चापल्य, चांचल्य, लालित्य, हास्य-व्यंग्य विद्यमान है कि पाठक आज तक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, अनुवाद के क्षेत्र में इस युग के लेखकों ने अच्छा कार्य किया, आलोचना में गति मन्द रही। कहानी की ओर रुचि भी न जाने क्यों उत्पन्न नहीं हुई। लेकिन भाषा तथा साहित्य के आधार पर देशप्रेम तथा राष्ट्रीय एकता के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। लेकिन इन लेखकों को हिन्दी का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं था, व्याकरण के नियमों से अनभिज्ञ से थे अतः भाषा को पूर्णतः शुद्ध रूप देने में सफल न हो सके।

भाषा को शुद्ध, परिमार्जित और व्याकरण सम्मत रूप देने में महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान प्रशस्य है। उन्होंने भाषा को स्थिरता और सहजता प्रदान की। इसके लिए उन्होंने 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का लगभग दो दशकों तक सुयोग्यता से सम्पादन किया। इस पत्रिका के द्वारा उन्होंने न केवल समकालीन साहित्यकारों की रचनाओं को प्रकाशित किया तथा उन्हें प्रोत्साहित किया बल्कि उनकी रचनाओं को संशोधित किया। अपने लेखों के द्वारा भाषा के शब्द-भण्डार को भरा, उसे परिमार्जित बनाने का सफल प्रयास किया। इसलिए उनके महान योगदान को देखते हुए उन्हें 'जानसन' कहा जा सकता है। हिन्दी-जगत में 'सरस्वती' का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। (सन् १९७५ में उसका प्रकाशन बन्द हो गया)। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यशस्वी सम्पादक के रूप में हिन्दी भाषा और साहित्य की अद्भुत सेवा की। उन्होंने भाषा का एक स्तर प्रतिष्ठापित किया। विविध प्रकार की गद्य-शैलियों को उनके सहयोगी लेखकों ने जन्म दिया। कहानी इस युग की अभूतपूर्व देन

कही जायेगी । द्विवेदी युग के प्रमुख लेखकों में प्रेमचंद, प्रसाद, बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल आदि थे । निबन्ध और आलोचना का इन लेखकों ने अच्छा विकास किया । शुक्ल जी ने निबन्ध के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य का इतिहास और आलोचनात्मक विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की भूमिकाएँ भी लिखीं ।

इस युग में आकर उपन्यास से चमत्कार प्रधान घटनाओं का बहिष्कार किया गया तथा मानव-जीवन की स्वाभाविक घटनाओं को ही उसमें स्थान दिया गया । देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों के स्थान पर सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, उपन्यासों की रचना की जाने लगी । प्रेमचंद, किशोरीलाल गोस्वामी, वृन्दावनलाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री आदि इस युग के प्रमुख उपन्यासकार हैं । बाद में चलकर आदर्शवाद और यथार्थवाद तथा राष्ट्रीय चेतना के अतिरिक्त मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासों की रचनाएँ होने लगीं । जैनेन्द्रकुमार, राहुल सांकृत्यायन, भगवती चरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, रांगेयराघव, अश्क, धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, शिवानी, राजेन्द्र अवस्थी, कमलेश्वर आदि की औपन्यासिक कृतियाँ अति महत्त्वपूर्ण हैं ।

कहानी के क्षेत्र में भी द्विवेदी युग और उसके बाद काफी प्रगति हुई—कहानी-साहित्य ने एक लम्बी यात्रा तय की—कई मंजिलें और मोड़ उस यात्रा में आये । प्रेमचन्द और प्रसाद ने कहानी को पक्की, सुदृढ़ आधार भूमि प्रदान की थी जिसे गुलेरी, चतुरसेन शास्त्री, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय ने मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ लिखकर आगे बढ़ाया । यशपाल, रांगेयराघव, पहाड़ी, कमलेश्वर, अमृतलाल नगर, मोहन राकेश, मनहर चौहान, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथसिंह, राजेन्द्र अवस्थी, दीप्ति खण्डेलवाल, कृष्णा सोवती, मन्नू भण्डारी, मेहरुन्निसा परवेज़, इब्राहीम शरीफ आदि की कहानियाँ मनोविश्लेषण प्रधान होने के साथ यौन-अतिवाद की श्रेणी में भी रखी जा सकती हैं । इनकी कहानियों में आधुनिक बोध को प्रमुखता से अभिव्यंजित किया गया है ।

नाटक-साहित्य में भारतेन्दु के पश्चात् महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जयशंकर प्रसाद का । उन्होंने उच्च कोटि के ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं । उनके नाटकों में भारत की अतीत संस्कृति और देश-भक्ति को प्रमुख स्वर प्रदान किये गये । कई दशकों के पश्चात् आज भी प्रसाद के नाटकों को सर्वोपरि

गौरव प्राप्त है। उनके नाटक चरित्र-चित्रण, वार्तालाप या कथावस्तु की दृष्टि से अदभुत हैं। प्रसाद के पश्चात् नाटक-साहित्य को समृद्ध करने वालों में उल्लेखनीय हैं लक्ष्मीनारायणलाल, हरिकृष्ण प्रेमी, रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर, भुवनेश्वर मिश्र, मोहन राकेश आदि। इन नाटककारों ने सामाजिक समस्या-प्रधान नाटकों की रचना अधिक सफलता से की है। कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गये। एकांकी, रेडियो रूपक, प्रहसन, एकालाप आदि कई विधाओं में नाटकों की रचना की जा रही है।

पत्रिकाएँ तो भारतेन्दु युग से ही आरम्भ हो चुकी थीं। द्विवेदी ने 'सरस्वती' का प्रकाशन कर पत्रकारिता को सुदृढ़ बनाया। इसके अतिरिक्त इन्दु, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, माधुरी, सुधा, जागरण, हंस, प्रभा, प्रताप, कर्मवीर, विशाल भारत आदि पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में काफी योग दिया। आजकल तो कई दर्जन पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में निकल रही हैं; उनमें दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक सभी प्रकार की हैं। उनमें हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सरिता, कादम्बिनी, सारिका आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

समालोचना और इतिहास लिखने का कार्य द्विवेदी युग में सुचारु रूप से चल पड़ा था। पहले आलोचना में संस्कृत आलोचना-पद्धति को अपनाया गया, बाद में पाश्चात्य आलोचना पद्धति को स्वीकार किया गया। जहाँ शुक्ल जी का योगदान विशेष रूप में उल्लेखनीय है। उनके पश्चात् आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० परशुराम चतुर्वेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डा० रामविलास शर्मा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० इन्द्रनाथ मदान आदि ने हिन्दी आलोचना को नया रूप, नया मोड़ दिया।

द्विवेदी युग के पश्चात् छायावादी कवियों ने काव्य के क्षेत्र में नवीन सृजन-शक्ति का परिचय देते हुए कविता को लाक्षणिक, अलंकृत, प्रतीकात्मक शैली प्रदान की। साथ ही इन कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों के आरम्भ में जो भूमिकाएँ लिखी हैं वे गद्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती हैं। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा आदि का गद्य अपना विशेष महत्त्व रखता है। यहाँ वियोगी

हरि, रायकृष्णदास आदि की भावुकता प्रधान गद्य-शैली भी प्रशंस्य है। छायावाद के पश्चात् प्रगतिवादी-युग में डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान ने सहज और व्यावहारिक आलोचना में अच्छी गद्य-कृतियाँ लिखी हैं। इस युग में आते-आते गद्य में और भी कई शैलियों का आविर्भाव हुआ, नये प्रयोग देखने में आये और इनमे हिन्दी गद्य का सर्वांगीण विकास परिलक्षित होता है। रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज, फेन्टेसी, रेडियो रूपक, आत्मकथा आदि विधाएँ इसी प्रकार की हैं।

हिन्दी गद्य की विभिन्न विधाएँ

सम्प्रति हिन्दी गद्य में निम्न विधाएँ प्रचलित हैं—

(१) उपन्यास, (२) कहानी, (३) नाटक, (४) एकांकी, (५) आलोचना, (६) संस्मरण, (७) रेखाचित्र, (८) रिपोतार्ज, (९) जीवनी, (१०) निबन्ध, आदि।

उपन्यास और कहानी का सम्बन्ध कथासाहित्य से है। हिन्दी में उपन्यास और कहानी ने अपनी लम्बी यात्राएँ तय की हैं। जहाँ उपन्यास सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और आँचलिक धरातलों पर लिखे गये वहाँ कहानी ने भी अपने कई एक रूप-रंग बदले और वह कहानी से अहानी तक हो गई यानी कहानी में कहानी या कथा का तत्त्व गौण हो गया और उसके स्थान पर संचेतना मात्र रह गई—एक क्षणिक अनुभूति की व्यजना का चित्रण ही किया जाने लगा। उसका भावनात्मक रूप कम हो गया, रसात्मकता जाती रही और रह गई एक बौद्धिक चेतना। दोनों ही विधाएँ—उपन्यास और कहानी हैं अवश्य गत्यात्मक।

नाटक और एकांकी के स्वरूप में भी काफी नवीनता परिलक्षित हुई। भारतेन्दु युग से लेकर आज तक सभी प्रकार के नाटक रचे गये; ऐतिहासिक, पौराणिक या धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि। प्रसाद ने नाटक साहित्य को अत्यधिक समृद्ध किया और उन्होंने कल्पना तथा इतिहास, का मणिकांचन योग प्रस्तुत कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया। इस समय लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती, रामकुमार वर्मा, विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने नई शैली को अपनाते हुए नाटकों की रचना की है। इधर के नाटको में पात्रों में प्रतीकात्मकता का सन्निवेश अधिक किया जाता रहा है,

वैसे तकनीकी दृष्टि से भी उसका रूप अधिक विकसित हुआ है, रेडियो नाटक, ध्वनिरूपक, झलकियाँ, प्रहसन नवीनतम शैलियाँ हैं जिनमें नाटकों या एकांकियों की रचना की जा रही है।

आलोचना के क्षेत्र में भी काफी व्यापकता देखी गई। रामचन्द्र शुक्ल से लेकर नगेन्द्र तक उसका रूप खूब निखरा। उसके कई नवीन रूप देखने में आए, जैसे आत्मगत आलोचना, व्यावहारिक आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, तुलनात्मक आलोचना आदि। आजकल तुलनात्मक आलोचना का विकास अधिक उर्वर है विशेषकर शोध प्रबन्धों में। आज के आलोचकों में डा० नगेन्द्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह, डा० रामविलास शर्मा, डा० मदान, डा० विजयेन्द्र स्नातक आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

गद्य की नवीन विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, रिपोर्ताज, शिकार साहित्य आदि उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण—यह गद्य की नवीन विधा है, इसमें महान व्यक्तियों के विशेष कार्य व्यापारों तथा उनकी जीवन की विशेष घटनाओं का स्मरण के आधार पर चित्रण किया जाता है। यह सर्जनात्मक साहित्य की कोटि में आता है। संस्मरण-लेखक में भावुकता, कल्पनाशीलता, गतिशीलता, उदारता, ज्ञान-शीलता, व्यावहारिकता का होना आवश्यक है। कहा जाता है पं० पद्मसिंह शर्मा ने इस विधा का सूत्रपात किया था और बाद में चलकर बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजन सहाय, हरिभाऊ उपाध्याय, महादेवी वर्मा, कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर, पं० श्रीराम शर्मा आदि ने इसे अग्रसर किया। संस्मरणों में यात्रा-वर्णन का भी समावेश किया जाता है। संस्मरण लेखक जो देखता है, अनुभव करता है उसका संवेदनापूर्ण और अनुभूति से प्राणवान बना-कर चित्रण करता है। वह अपने चारों ओर के जीवन का, परिवेश का सर्जन करता है। उसमें पूर्वाग्रह नहीं रहता। वह ऐसा प्रबुद्ध लेखक होता है जिसमें आत्मीयता अत्यधिक होती है।

रेखाचित्र—इसे शब्दचित्र भी कहते हैं। रेखाचित्र का सीधा अर्थ है रेखाओं (शब्दों) द्वारा चित्र प्रस्तुत करना। रेखाचित्रकार एक चित्रकार है, जिस प्रकार चित्रकार अपने चित्रों में ऐसे रंग भरता है जिससे वह चित्र न केवल सजीव और आकर्षक हो जाता है वरन् वह चित्र मौन रूप में अपने

स्वरूप को दर्शकों के सामने अभिव्यंजित भी कर देता है, इसी प्रकार रेखाचित्रकार शब्दों की ऐसी सजीव योजना करता है, वाक्यों का ऐसा संगुंफन तैयार करता है जिससे उद्दिष्ट वस्तु का रूप-आकार सभी नेत्रों के सामने जीवंत हो जाते हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी ने रेखाचित्रकार के विषय में कहा है, "वह प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से सजीव कर देता है। जिस आदमी को जीवन के विभिन्न अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आँख खोलकर दुनिया को नहीं देखा, जिसे कभी जीवन-संग्राम में जूझने का अवसर नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्त में बैठकर जिंदगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है ?" रेखाचित्र व्यक्ति विशेष अथवा किसी वस्तु का चित्र होता है। ऐसे निरीह प्राणी भी उसका विषय बनते हैं जो न तो बोल सकते हैं और न उसमें कोई ज्ञान होता है। वह तो सुख-दुख के थपेड़े खाते रहते हैं और जीवित रहते हैं। लेकिन मनुष्य जो अधिक विवेकी है, मुखर है, संवेदनशील है वह जब रेखाचित्र का विषय बनता है तो वह अधिक जीवित हो उठता है। रेखाचित्र एक ऐसी पृथक और पूर्ण विधा है जिसमें समाज या व्यक्ति की जीवन-धारा अपने सम्पूर्ण वेग और आकार के साथ बहती है। वह एक ऐसा चित्र है जो काल्पनिक और वास्तविक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। रेखाचित्र और संस्मरण में थोड़ा अन्तर है; संस्मरण में लेखक प्रमुख रूप से अपने जीवन की घटनाओं के चित्र प्रस्तुत करता है और उन घटनाओं को स्वयं भी दूसरों के साथ भोगता है, जीता है। लेकिन रेखाचित्र अपना न होकर दूसरों का होता है, अतः रेखाचित्रकार को उस व्यक्ति विशेष का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिसका वह चित्रण कर रहा है। रेखाचित्र के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के सामान्य जीवन के मार्मिक प्रसंगों को एक विशेष विद्युन्मयी प्रभा से प्रदीप्त कर चित्रित किया जाता है। एक शब्द-शिल्पी और कलात्मक निपुण रचनाकार अपने अद्भुत अभिव्यंजना-कौशल से प्रभाविष्णु रेखाचित्र प्रस्तुत कर सकता है। रेखाचित्रकारों में पद्मसिंह शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, निराला, बेनीपुरी, महादेवी वर्मा, प्रभाकर माचवे, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि का स्थान प्रमुख है।

रिपोर्ताज—रिपोर्ताज का उदय पत्रकारिता से हुआ, लेकिन है यह नवीन

और पृथक साहित्य-विधा। समाचार पत्रों में 'रिपोर्ट' का स्थान प्रमुख होता है, रिपोर्ट को ही एक अभिरोचक शैली में पेश करना रिपार्ताज है। रिपोर्ताज में रिपोर्ट के सभी तत्त्वों का समावेश होता है। यह एक कलात्मक रचना है, जिसमें कल्पना-शक्ति, रोचक भाषा और शैली अवश्य विद्यमान रहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् रिपोर्ताज का उदय हुआ। युद्ध-क्षेत्र की और बाहर की घटनाओं को पर्याप्त चमत्कार के साथ प्रस्तुत करना रिपोर्ताज है। 'रिपोर्ट' में रोचकता नहीं रहती। लेकिन जब रिपोर्ट कला-सर्जन के तत्त्वों से अलंकृत होकर आकर्षक और रोचक रूप में प्रस्तुत की जाती है तो रिपोर्ताज कहा जायगा। समाचारपत्रों में हम रिपोर्ट तो पढ़ते ही रहते हैं लेकिन जब कोई सनसनीखेज या चमत्मकारोत्पादक घटना नहीं होती तो कोई उसे पढ़ना पसंद नहीं करता, लेकिन रिपोर्ताज में किसी घटना का संवेदनशील चित्रण होता है। रिपोर्ताज कोई कहानी या निबन्ध नहीं, लेकिन दोनों का संस्पर्श उसमें झलकता है। सुन्दर शब्द-योजना के साथ मार्मिक प्रस्तुतीकरण इसके लिए आवश्यक हैं। वर्तमान वैज्ञानिक जीवन राजनीति से आक्रान्त है, बिना राजनीतिक सरगरमियों के जीवन में रूखापन-सा रहता है। रिपोर्ताज में उन सरगरमियों को भी सुरुचिसम्पन्न ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विवेकी राय, फणीश्वर रेणु, कल्याण बसु आदि ने अपनी रिपोर्ताजों के द्वारा काफी लोकप्रियता प्राप्त की।

जीवनी—जीवनी भी एक नई विधा है। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक के साहित्य का सिंहावलोकन कीजिए तो जीवनी-साहित्य की महत्ता स्पष्ट हो जायेगी। हम शैशव-अवस्था से अनुकरण के आधार पर बहुत कुछ सीखते रहते हैं और अपने जीवन का, व्यक्तित्व का निर्माण करते रहते हैं। जीवनी-साहित्य के जीवन में विशेष महत्त्व है। इसमें हम देश-विदेश की महान विभूतियों को चित्रित करते हैं। संसार की इन महान विभूतियों की जीवनियाँ पढ़कर किशोर ही नहीं प्रौढ़ तक प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। इब्राहीम लिंकन, स्वामी विवेकानन्द, अरविंद, महात्मा गांधी, राजेन्द्रप्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, बर्ट्रेण्ड रसल, सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, आदि की जीवनियाँ जीवनी-साहित्य की विशेष उपलब्धियाँ हैं। तटस्थता, जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण पक्षों का सम्यक् ज्ञान एवं समुचित उद्‌घाटन घटनाओं का चयन, देश-काल का ध्यान, रोचक शैली जीवनी-साहित्य के लिए आवश्यक हैं।

जीवनी-साहित्य से मिलती-जुलती दूसरी एक विधा है आत्मकथा। आत्मकथा में लेखक स्वयं ही अपने जीवन को क्रमबद्ध रूप में चित्रित करता है, जबकि जीवनी में लेखक दूसरे महापुरुषों के जीवन को चित्रित करता है और महापुरुष जब स्वयं अपने जीवन को क्रमबद्ध रूप में अंकित करता है तो वह आत्मकथा कहलाती है। आत्मकथा में व्यावहारिकता अधिक होती है, वह इसीलिए शीघ्र प्रभावित करती है। यहाँ वाक्वैचित्र्य और कल्पना-विलास के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता। आत्मकथा में महापुरुष के व्यक्तित्व की, उसके जीवन की सम्पूर्ण प्रतिच्छाया परिलक्षित होती है। महात्मा गांधी, नेहरू, अरविन्द की आत्मकथाएँ हमारे लिए गौरव की वस्तुएँ हैं, विश्व-मानवता के लिए कल्याणप्रद हैं। बच्चन, दिनकर आदि ने भी अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं।

शिकार साहित्य—शिकार साहित्य नवीन विधा है और इसके प्रवर्तक पं० श्रीराम शर्मा माने जाते हैं। शर्मा जी जहाँ एक प्रसिद्ध स्वतन्त्रता-सेनानी थे वहाँ एक निर्भीक शिकारी भी थे। उन्होंने अपने शिकारी जीवन का उल्लेख अत्यन्त रोमांचकारी शैली में अपने ग्रन्थों में किया है। यहाँ लेखक पशु-मनोविज्ञान के पारखी मालूम पड़ते हैं। कुछेक अन्य लेखकों ने भी शिकार साहित्य का सृजन आरम्भ किया है।

डायरी, रेडियो वार्ता आदि भी गद्य की नई विधाएँ मानी जाती हैं, जो अभी विकास यात्राएँ तय कर रही हैं।

निबन्ध

निबन्ध गद्य की प्रमुख विधा है। 'निबन्ध गद्य की कसौटी है' ऐसा कहा जाता है, अर्थात् यदि गद्य के स्वरूप को परखना है तो निबन्ध के द्वारा ही परखा जा सकता है। वर्तमान युग, जो बौद्धिकता और तार्किकता पर अधिक जोर देता है, निबन्ध के लिए अधिक उपयोगी और अनुकूल है। इसी कारण हम देखते हैं कि इस युग में निबन्ध-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ है क्योंकि निबन्ध में बौद्धिकता अधिक रहती है, यद्यपि उसमें रागात्मकता का पक्ष भी कम नहीं होता। जैसे कविता की कोई सर्वांगीण और सार्वभौम परिभाषा आज तक नहीं दी जा सकी उसी प्रकार निबन्ध की भी सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकी। अंग्रेजी में निबन्ध को 'ऐसे' कहा जाता है।

सोलहवीं शताब्दी में फ्रेंच साहित्यकार माइकेल दि मान्टेन 'ऐसे' के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने अपने निबन्धों के विषय में कहा था—"मेरे निबन्ध मेरे मन की मुक्त उड़ान हैं, मैं अपने निबन्धों में अपने आपको पाठकों के सम्मुख उद्घाटित कर देने का प्रयत्न करता हूँ।" अंग्रेजी में बेकन और जॉनसन निबन्ध के प्रवर्तक माने जाते हैं। बेकन का विचार है "मन के बिखरे हुए चिन्तन कणों का संकलन ही निबन्ध है।" जॉनसन ने कहा है, "निबन्धों में विचारों की शृंखला नहीं होनी चाहिए, मन की सहज गति का अभिलेख ही निबन्ध है।"

हिन्दी में रामचन्द्र शुक्ल सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार माने जाते हैं। उन्होंने निबन्ध के विषय में कहा है—

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। ....निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्धी सूत्र की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टि-पथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विवेचना का मूल आधार यही है। ....निबन्ध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए।"

डा० श्रीकृष्ण लाल कहते हैं—

"निबन्ध वही साहित्य रूप है जिसमें लेखकों ने प्रतिपाद्य विषय के भीतर ही अपनी रुचि, भावना एवं विचारों की स्वच्छन्द भाव से अभिव्यक्ति की है।"

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार—

The Essay is a composition of moderate length, usually in pròse, which deals with in an easy, cursory way with a subject, and in strictness with that subject only, as it affects the writer."

निबन्ध की विशेषताएं—(१) निबन्ध योजनाबद्ध एक संक्षिप्त गद्य-रचना है। आकार में लघु होने के कारण वह अन्य रचनाओं से पृथक किया जा सकता है।

(२) निबन्ध के संघटक तत्त्व अन्य साहित्य-विधाओं से पृथक और स्वतन्त्र हैं। वह स्वतन्त्र गद्यात्मक रचना है जो अनुच्छेदों में परिबद्ध रहती है।

(३) निबन्ध के लिए विषयों का खुला क्षेत्र है, किसी भी विषय को निबन्ध अपने में समाहित कर सकता है।

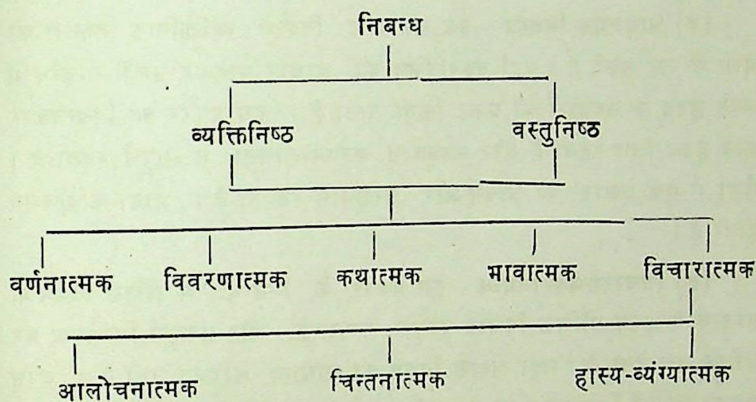
(४) निबन्ध निबन्धकार का आत्मप्रकाशन या व्यक्तित्व-प्रकाशन है। निबन्ध में व्यक्त विचारों का उत्तरदायित्व लेखक का होता है। उसका लेखन-कौशल ही नहीं, उसके व्यक्तित्व की समस्त प्रखरता और प्रौढ़ता निबन्ध में व्यक्त होती है।

(५) निबन्ध में लेखक और पाठक दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने होते हैं, लेखक अपने निबन्ध द्वारा—विचारों द्वारा पाठक को प्रभावित करता है और पाठक उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है और साथ ही एक प्रकार की आत्मीयता तथा तादात्म्यता का भी अनुभव करता है।

(६) निबन्ध प्रभावपूर्ण शैली में लिखा जाता है और उसमें विचारों का क्रम-प्रवाह पूर्णरूप से विद्यमान रहता है। निबन्ध में सबसे बड़ा आकर्षण उसकी भाषा शैली है। "Style is the man." प्रत्येक लेखक की अपनी निजी शैली होती है, शैली ही व्यक्तित्व है। एक व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व से नहीं मिलता इसलिए एक लेखक की शैली भी दूसरे से नहीं मिलती। शैली का लालित्य निबन्ध को सजीव तथा प्रभावशाली बना देता है। हम चाहे लेखक के विचारों से सहमत या प्रभावित न हों, लेकिन शैली का प्रभाव अवश्य पड़ता है। विषय के अनुसार शैली का रूप भी बदलता रहता है। एक ही विषय पर तरह-तरह की शैलियों में निबन्धों की रचना की जा सकती है। यह माना जाता है कि निबन्ध में शैली ही विषय का स्वरूप निश्चित करती है। भावुकता, विनोदप्रियता और व्यंग्यात्मकता निबन्ध को अधिक रोचक एवं प्रभावशाली बनाते हैं। निबन्ध कई शैलियों में लिखे जा सकते हैं; समास शैली, व्यास शैली, प्रतीकात्मक शैली, अलंकृत शैली, हास्य-व्यंग्य-विनोद की शैली आदि।

निबन्ध के भेद—विषय और शैली के आधार पर विद्वानों ने निबन्ध के कई भेद किये हैं :—जिस निबन्ध में विषय के बाह्य स्वरूप की प्रधानता रहती है, वह विषयनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ कहलाता है और जिसमें लेखक के स्वचिंतन

की प्रधानता रहती है वह व्यक्तिनिष्ठ या विषयनिष्ठ कहलाता है। उसके विषय की दृष्टि से परिचयात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक आदि और विषयी की दृष्टि से भावात्मक, व्यंग्यात्मक, आत्मकथात्मक आदि भेद किये जा सकते हैं :—



(१) **वर्णनात्मक निबन्ध**—इन निबन्धों में वस्तु, व्यक्ति, घटना, प्रकृति का वर्णन किया जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष वस्तु ही वर्ण्य विषय होती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल' इसी प्रकार का निबन्ध है। लेखक वस्तु का पूर्ण चित्रण करता है। यहाँ लेखक का व्यक्तित्व गौण रहता है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, न गम्भीर चिंतन और विचार-मन्थन के लिए यहाँ अवकाश रहता है। किसी वस्तु, स्थान, घटना आदि का पूर्ण विवरण ही यहाँ अभीष्ट होता है इसलिए ये निबन्ध वस्तुनिष्ठ होते हैं।

(२) **विवरणात्मक निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्ध भी वस्तुनिष्ठ निबन्ध की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। यहाँ किसी एक दृश्य, स्थिति, मेले, यात्रा आदि का वर्णन किया जाता है।

(३) **कथात्मक निबन्ध**—अंग्रेजी के नेरेटिव निबन्ध इसके अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के निबन्ध मनोरंजक होते हैं और साथ ही आत्मप्रेरक भी। यहाँ लेखक का कला-वैचित्र्य और शैली की चारुता रोचकता उत्पन्न करते हैं। संस्मरणों को भी हम इस श्रेणी में रख सकते हैं। इन्हें **चरितात्मक निबन्ध**

भी कह सकते हैं। यहाँ किसी महान व्यक्ति के जीवन-चरित का, उसके जीवन की विशेषताओं का आकर्षक तथा रोचक शैली में चित्रण किया जाता है। पद्मसिंह शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, आदि के निबन्ध इसी प्रकार के हैं।

(४) **भावात्मक निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की श्रेणी में रख सकते हैं। यहाँ वस्तुविशेष को आधार मानकर उसके सम्बन्ध में अपने हृदय के उद्‌गारों को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार का निबन्धकार कवि हृदय लिए रहता है और भावुकता, कल्पनाशीलता से आपूर्ण रहता है। शैली में एक प्रकार का आवेग और उच्छ्‌वास रहता है। भाषा कवित्वमय होती है।

(५) **विचारात्मक निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्धों में लेखक विषय के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करता है, और तर्कपूर्ण विश्लेषण पर अधिक बल देता है। यहाँ लेखक विषय का सामान्य परिचय नहीं देता, वरन् उसका तर्कपूर्ण विवेचन करता है और अपनी उपपत्तियों की स्थापना प्रमाण देकर करता है। समासशैली और पारिभाषिक शब्दावली का अधिक प्रयोग करता है। चार्ल्स लेम्ब, विलियम हेजलिट, शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र आदि निबन्धकार इसी प्रकार के निबन्ध लेखक हैं।

(६) **आलोचनात्मक निबन्ध**—आलोचनात्मक या समीक्षात्मक निबन्ध साहित्यशास्त्रीय होते हैं। यहाँ लेखक के व्यक्तित्व के साथ-साथ उसके विचारों की मौलिकता, भाषा का लालित्य, शैलीगत सौंदर्य अधिक स्पष्ट होते हैं। नीरसता और दुरूहता भी कहीं-कहीं आ जाती है। बहुधा इस प्रकार के निबन्धों में किसी साहित्यिक रचना के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता है। ये वैचारिक निबन्धों से पृथक होते हैं। नगेन्द्र, शुक्ल, विजयेन्द्र स्नातक, नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय आदि के निबन्ध आलोचनात्मक अधिक हैं।

(७) **चिन्तनप्रधान निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्धों का विषय मानवजीवन का व्यापक कार्यक्षेत्र ही है लेकिन लेखक चिन्तन पर अधिक बल देता है।

दार्शनिक निबन्धों को भी इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध चिन्तन प्रधान हैं।

(८) **हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध**—यहाँ विषय से अधिक लेखक का व्यक्तित्व ही महत्त्वपूर्ण होता है। खरी, तीखी, कटु, चुभती हुई बात को भी लेखक हास्य-व्यंग्य की शैली में इस ढंग से कह डालता है कि सुनने वाले बुरा नहीं मानते, हँसकर रहते हैं। ऐसे लेखक बड़ी सफाई से सामाजिक कुरीतियों, विषमताओं का सफलता से प्रभावशाली ढंग में चित्रण कर देते हैं। लेखक का विनोदी स्वभाव, चुटीली उक्तियाँ उसकी बड़ी सहायता करते हैं। हरीशंकर परसाई आदि के निबन्ध इसी कोटि में आते हैं।

संकलन

एक

आप



प्रतापनारायण मिश्र

भला बताइये तो आप क्या हैं ! आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं। यह कहाँ की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढंग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं, तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप 'ब्राह्मण' के सम्पादक हैं अथवा आप पण्डित जी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, लाला जी हैं, आप बाबू साहब हैं; आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं ? यह तो प्रश्न की कोई रीति ही नहीं है। वाचक महाशय ! यह हम ही जानते हैं कि आप आप ही हैं और हम भी वहीं हैं, तथा इन साहबों की भी लम्बी धोती, चमकीली पोशाक, खूँटि हुई अँगरखी (मिरजई), सीधी माँग विलायती चाल, लम्बी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिये।" अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसलिए कि देखें आप "आप" का ज्ञान रखते हैं या नहीं ? जिस 'आप' को आप अपने लिए तथा औरों के प्रति दिन-रात मुँह पर धरे रहते हैं; वह 'आप' क्या है ? इसके उत्तर में आप कहियेगा कि एक सर्वनाम है। जैसे—मैं, तू, हम, तुम, यह, वह, आदि हैं; वैसे ही 'आप' भी है, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमीं सन्तुष्ट होंगे न आप ही को शब्द-शास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू'

का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता वा प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सम्बोधन की नकल है; हम, तुम संस्कृत के 'अहं', 'त्वं' के अपभ्रंश हैं; यह वह निकट की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण है, वैसे आप क्या हैं ? किस भाषा में किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है ?

हज़ूर की मुलाज़मत से अक़्ल ने इस्तीफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफज़ फारसी या अरबीस्त" अथवा "ओः इटिज एन इंगलिश वर्ड" (Oh ! it is an English word) जब यह नहीं है तो खाहमखाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिरपैर मूँड-गोड़ भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में 'आप' कहते हैं जल को और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा—"आप एवं ससर्जादौ तासु बीजमवा सृजत"—तथा हिन्दी में पानी और फारसी में 'आब' का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है—जैसे "पानी उतरिगा तरवारनि का उइ करछुलि के मोल बिकायँ" तथा—"पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर बिसुऔ ते (वेश्या से भी) जायँ," और फारसी में "आबरू खाक में मिला बैठे" इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आप का समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा, पर खींच खाँच कर, और साथ ही शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगा कि पानी के जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं। उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, "आप" ही के सुर्खाब का पर कहाँ लगा है। अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिये तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप-आप कहा करते हैं, यह आप की कौन सी विज्ञता है ? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुँह से आप-आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं ? हमें निश्चय है कि आप 'पानी-दार' होंगे तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जायंगे और कभी यह शब्द मुँह पर भी न लावेंगे।

सहृदय सुहृदयगण आपस में आप-आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दू दाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते-जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का-सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायत वालों के आगे आप-आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने हमने दो-चार बार समझाया, पर वह 'आप' थे क्यों मानने लगे। इस पर हमें झुँझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शब्द मुँह पर लाते ही कह दिया कि आप की ऐसी-तैसी ! यह क्या बात है कि तुम मित्र बन कर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ तू कहने में जितना स्वाद आता है उतना बनावट से आप-साँप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गये। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में कोई बन्धन न होने पर भी इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता में हमने दो ही व्यक्ति इससे युक्त पाये हैं, एक तो 'आप को न चाहे ताके बाप को न चाहिये' पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रन्थ का है और न इसका आशय स्नेह-सम्बन्ध है। किसी जले-भुने कवि ने कह मारा तो कह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी 'आप' की पूछ है। दूसरी घनानन्दजी की यह सवैया है—"आपहि तो मन हरि हेरो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है, इससे हमारा यह कथन कोई खण्डन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में 'आप' का आदर नहीं है, 'तू' ही प्यारा है।

संस्कृत और फारसी के कवि भी 'त्वं' और 'तू' के आगे 'भवान' और 'शुमा' (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते। पर इससे आप को क्या मतलब ? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइये और न लगे तो हम बतला देंगे।

संस्कृत में एक "आप्त" शब्द है, जो सर्वथा मानवीय अर्थ में ही आता है, यहाँ तक कि न्याय-शास्त्र में प्रमाण चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) के अन्तर्गत शब्द-प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि "आप्तोपदेशः शब्दः" अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक

होता है। या यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्य-भाषणादि सद्‌गुणों से संयुक्त हो, वह आप्त है। और देवनागरी (हिन्दी) भाषा में आप्त शब्द सबके उच्चारण में सहजतया 'नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके आप बना लिया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर-द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो', और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे 'पुलक प्रफुल्लितपूरित गाता' हो जाँय, पर व्यवहार-कुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे, जब कहा जाय कि "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं" इत्यादि—

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहां के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हों तो उस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के 'आप्त' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों चाहे बातें करने वालों के द्वारा पूछे-बताये जा रहे हों, अथवा दो व अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी-कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ वहीं रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो तब कोई अपने मन से आप को (अपने-तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाना पड़ता, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिये तो यों समझ लीजिये कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा वह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात् कोई सन्देह नहीं है कि हमसे वह कार्य सम्पादित हो जाएगा, 'हम आप जानते हैं अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है', इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के 'आपाजी' भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के

मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के 'अब्ब' (पिता, बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं में पापा (पिता), 'पोप' (धर्म-पिता) आदि भी इस आप्त से निकले हैं। हाँ, इसके समझने-समझाने में भी जी ऊबे तो अँगरेजी एबाट (Abot महंत) तो इसके हुई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों आकार के स्थानापन्न A है, और 'पकार' बकार से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (t) सो वह तो तकार हुई है। फिर क्या न मान लीजियेगा कि 'एबाट' साहब हमारे 'आप' वरंच शुद्ध 'आप्त' से बने हैं।

हमारे प्रान्त में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई-कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर उनकी समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं 'अब्बा' और हिन्दू सन्तान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी ठीक नहीं होता, यह अँगरेजों की 'तकार' और फारसी वालों की 'टकार' नहीं है कि मुँह ही से न निकले, और सदा मोती का 'मोटी' अर्थात् स्थूलांग स्त्री और खस की टट्टी का 'तत्ती' अर्थात् गरम हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा। हाँ 'आप्त' से 'आप' और 'अप्पा' तथा 'आपा' की सृष्टि हुई है, उसी को अरब वालों ने 'अब्बा में रूपान्तरित कर लिया होगा क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (प) नहीं होता, सौ बिस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकलते हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व फकार से बदल लेते हैं, जैसे—पादशाह-बादशाह और पारसी—फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में बकार भी मिला देते हैं, जैसे—वक्ते-शब—बवक्ते शब तथा तंग आमद—ब तंग आमद इत्यादि, और शब्द के आदि का ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है, जैसे अमावस का मावस ह्रस्व आकारान्त शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे—एक—एकु, स्वाद—स्वादु आदि अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ, आदि वृद्धि या लोप भी हुआ ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकालती हो, वह प्रायः समस्त संसार के शब्द 'आप्त' महाशय या 'आप' ही के उलट-फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गये न कि आप क्या हैं ? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं। हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी-छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइये, फिर आप ही समझने लगियेगा कि आप "कौन हैं ? कहाँ के हैं ? कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके और लेख पढ़ के आप से बाहर हो जाइये, तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी में कह लेंगे "शाब ! आप न समझो तो आपाँ को के पडी छँ।" ऐ ! अब भी नहीं समझे ? वाह रे आप !

दो

आशीर्वाद



बालमुकुन्द गुप्त

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुनि में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम-इलायची के छिलके उतारे जा रहे थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छील कर रस निकाला जा रहा था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी, इधर भंग उधर छटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा चीलें अदृष्य हुईं। अँधेरा छाया। बूंदें गिरने लगीं। साथ ही तड-तड धड-धड होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई "बम भोला" कहके शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बडे लाट मिन्टो ने बगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिन्टो के सिर या छाते पर।

भंग छान कर महाराज जी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़धड़-तड़तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोंकों से किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे के टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के

किवाड़ खोलकर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंके ने दस-बीस बूँदों और दो-चार ओलों से शर्मा जी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के भीतर भी ओलों की एक बौछार पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये, तथापि एक शीशा चूर हुआ। समझ में आ गया कि ओलों की बौछार चल रही है। इतने में ठन-ठन करके दस बजे। शर्मा जी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान टीन और ओलों के सम्मिलन की ठनाठन का मधुर शब्द सुनने लगे। आँखें बन्द हाथ-पाँव सुख में, पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गए होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घर में चले गए होंगे; पर वे चीलें कहाँ गई होंगी ? ओलों से उनके बाजू कैसे बचे होंगे; जो पक्षी इस समय अपने अण्डे-बच्चों समेत पेड़ों पर पत्तों की आड़ में हैं या घोंसलों में छिपे हुए हैं, उन पर क्या गुज़री होगी ? ज़रूर झड़े हुए फलों के ढेर में कल सवेरे इन बदनसीबों के टूटे अण्डे, मरे बच्चे और उनके भीगे सिसकते शरीर पड़े मिलेंगे। हाँ, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर वह यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सैकड़ों अट्टालिकाएं शून्य पड़ी हैं। उनमें सहस्रों मनुष्य सो सकते हैं; पर उनमें ताले लगे हैं और सहस्रों में केवल दो-दो, चार-चार आदमी रहते हैं। अहो, तिस पर भी इस देश की मिट्टी से बने सहस्रों अभागे सड़कों के किनारे इधर-उधर की सड़ी और गीली भूमियों में पड़े भीगते हैं। मैले चिथड़े लपेटे हुए वायु, वर्षा और ओलों का सामना करते हैं। सबेरे इनमें से कितनों की ही लाशें जहाँ-तहाँ पड़ी मिलेंगी। तू इस चारपाई पर मौज़ें उड़ा रहा है ?

आन की आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आयी। भारत ! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ? कभी कोई हर्ष-सूचक बात दस-बीस पल के लिए चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिए। प्यारी भंग ! तेरी कृपा से कभी-कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। इसी से तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो वह अधबूढ़ा भंगड़ क्या सुख का भूखा है ? घावों से चूर जैसे नींद में पड़कर अपने

कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिव-शम्भु भी उसी प्रकार कभी-कभी अपने कष्टों को भूल जाता है ।

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा । विचार आया कि काल अनन्त है । जो बात इस समय है, वह सदा न रहेगी । इससे एक समय अच्छा भी आ सकता जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है । एक दिन ऐसी ही काली रात थी । इससे भी घोर अँधेरी—भादों कृष्णा-अष्टमी की अर्द्धरात्रि । चारों ओर घोर अन्धकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंधती थी, घन गरजते थे । यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी । ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्योजात शिशु को गोद में लिए मथुरा के कारागार से निकल रहा था । शिशु की माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को भूलकर दुःख से विह्वल होकर चुपके-चुपके आँसू गिराती थी, पुकार कर रो भी नहीं सकती थी । बालक उसने उस पुरुष को अर्पण किया और कलेजे पर हाथ रखकर बैठ गयी । सुध आने के समय से उसने कारागार में ही आयु बितायी है । उसके कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आँखों के सामने मारे गए । यह अन्तिम बालक है । कड़ा कारागार, विकट पहरा; पर इस बालक को वह किसी प्रकार बचाना चाहती है, इसी से इस बालक को उसके पिता की गोद में दिया है कि वह उसे किसी निरापद स्थान में पहुँचा आवे ।

वह और कोई नहीं थे यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण । उसी को इस कठिन दशा में उस भयानक काली रात में वह गोकुल पहुँचाने जाते हैं । कैसा कठिन समय था । पर दृढ़ता सब विपदाओं को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है । वसुदेव सब कष्टों को सहकर यमुना पार करके भीगते हुए उस बालक को गोकुल पहुँचाकर उसी रात कारागार में लौट आये । वही बालक आगे कृष्ण हुआ । ब्रज का प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ, उस समय की राज-नीति का अधिष्ठाता हुआ, जिधर वह हुआ उधर विजय हुई । जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई । वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिव-शम्भु शर्मा का इष्टदेव; स्वामी और सर्वस्व । वह कारागार भारत-संतान के लिए तीर्थ हुआ । वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई ।

बर ज़मीने कि निशाने क़फ़े पाये तो बुवद।
सालहा सिजदये साहिब नज़राँ ख्वाहद बूद ॥

(जिस भूमि पर तेरा पद चिह्न है, दृष्टि वाले सैंकड़ों वर्ष तक उस पर अपना मस्तक टेकेंगे)

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है। "पञ्जाबी" के स्वामी और सम्पादक को जेल के लिए दुःख न करना चाहिए। जेल में कृष्ण ने जन्म लिया है। इस देश को सब कष्टों से मुक्त करने वाले ने अपने पवित्र शरीर को पहले जेल की मिट्टी से स्पर्श कराया। उसी प्रकार "पञ्जाबी" के स्वामी लाला यशवन्तराय ने जेल में जाकर जेल की प्रतिष्ठा बढ़ायी, भारतवासियों का सिर ऊँचा किया। उतना ही ऊँचा, जितना कभी स्वाधीनता और स्वराज्य के समय अग्रवाल जाति का अग्रोहे में था। उधर एडीटर मि० अथावले ने स्थानीय ब्राह्मणों का मस्तक ऊँचा किया जो उनके गुरु तिलक को अपने मस्तक का तिलक समझते हैं। सुरेन्द्रनाथ ने बंगाल की जेल का और तिलक ने बम्बई की जेल का मान बढ़ाया था। यशवन्तराय और अथावले ने लाहौर की जेल को वही पद प्रदान किया। लाहौरी जेल की भूमि पवित्र हुई। उसकी धूल देश के शुभचिन्तकों की आँखों का अञ्जन हुई जिन्हें इस देश पर प्रेम है, वे इन दो युवकों की स्वाधीनता और साधुता पर अभिमान कर सकते हैं।

जो जेल चोर-डकैतों, दुष्ट हत्यारों के लिए है उसमें जब सज्जन, साधु, शिक्षित, स्वदेश और स्वजाति के शुभ-चिन्तकों के चरणों का स्पर्श हो तो समझना चाहिए कि उस स्थान के दिन फिरे; ईश्वर की उस पर दयादृष्टि हुई। साधुओं पर संकट पड़ने से शुभ दिन आते हैं। इससे सब भारतवासी शोक-सन्ताप भूलकर प्रार्थना के लिए हाथ उठावें कि शीघ्र वह दिन आवे जब एक भी भारतवासी चोरी, डकैती, दुष्टता, व्यभिचार, हत्या, लूट-खसोट, जाल आदि दोषों के लिए जेल नहीं जायं। जायँ तो देश और जाति की प्रीति और शुभ चिन्ता के लिए, दीनों और पददलित निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचाने के लिए, हाकिमों को उनकी भूलों और हार्दिक दुर्बलता से सावधान करने के लिए और सरकार को सुमन्त्रणा देने के लिए। यदि हमारे राजा और शासक हमारे सत्य और स्पष्ट भाषण और हृदय की स्वच्छता को भी दोष समझें और हमें उसके लिए जेल भेजें तो वैसी जेल हमें ईश्वर की कृपा समझकर स्वीकार

करना चाहिए और जिन हथकड़ियों से हमारे निर्दोष देशबान्धवों के हाथ बँधें उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि हमारे ईश्वर में इतनी शक्ति न हो कि वह हमारे राजा और शासकों को हमारे अनुकूल कर सके और उन्हें उदारचित्त और न्यायप्रिय बना सके तो इतना अवश्य करे कि हमें सब प्रकार के दोषों से बचाकर न्याय के लिए जेल काटने की शक्ति दे जिससे हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारत के हैं। इस देश के सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहें इसी देश में, चाहे जेल में, चाहे घर में। जब तक जियें, और जब प्राण निकल जायँ तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जायँ।

तीन

भाव



आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

'भाव' ही कर्म के मूल प्रवर्तक और 'शील' के संस्थापक हैं। सुख और दु:ख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले पहल राग और द्वेष आदिम प्राणियों में प्रकट हुए जिनसे दीर्घ परंपरा के अभ्यास द्वारा आगे चलकर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में थे, पीछे भाव रूप में आए। जात्यंतर परिणाम द्वारा समुन्नत योनियों का विकास और मनोविज्ञानमय कोश का पूर्ण विधान हो जाने पर विविध वासनाओं की नींव पर रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि 'भावों' की प्रतिष्ठा हुई। इंद्रियज सुख-दु:ख से भागवत हर्ष, शोक आदि में सबसे बड़ी विशेषता तो यह हुई कि पहले में प्रत्ययबोध आवश्यक नहीं था, पर दूसरे में प्रत्यय की प्रधानता हुई—पहले में ध्यान मुख्यतः सुख-दु:ख पर रहता था और दूसरे में हर्ष-शोक के विषय पर रहने लगा। इंद्रियज संवेदन वेदना- प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान (आलबन-प्रधान) होता है। वासनात्मक प्रवृत्ति में 'लक्ष्य' और 'आलंबन' भावना या प्रत्यय रूप में निर्दिष्ट नहीं होते। बहुत से जीव-जंतु कोई भारी शब्द या खटका सुनते ही भाग खड़े होते हैं। मनुष्य भी कभी-कभी ऐसा करता है। इस प्रकार की चेष्टा केवल इंद्रियज संवेदन पर निर्भर रहती है। प्रत्येक 'भाव' का आदिम वासनात्मक रूप प्रायः इसी प्रकार का होता है और उसका विधान शरीर की भीतरी और बाहरी बनावट के अनुसार होना है। जिन क्षुद्र से क्षुद्र जीवों के शरीर में बचाव के लिए शास्त्रविधान होता है वे बाधा पहुँचाने पर आप

से आप संस्कारवश जिधर से बाधा जाती हुई जान पड़ती है उस ओर झपट पड़ते हैं। दुर्गंधयुक्त सड़े-गले आहार से जो विशेष प्रकार का क्षोभ घ्राणेंद्रिय और रसनेंद्रिय में होता है उसकी अनुभूति जो कभी-कभी वमनेच्छा या मतली के रूप में होती है—घृणा की प्रवृत्ति का मूल है। आगे चलकर अंतःकरण में प्रत्यय या भावना का विधान हो जाने पर ऐसे पदार्थों के दर्शन और स्पर्श क्या श्रवण मात्र से भी घृणा जाग्रत होने लगी। इसी प्रकार क्रमशः जुगुप्सा के 'भाव' का विधान हुआ। भाव योजना के सहारे मनुष्य गंदे और मैले-कुचैले लोगों से ही नहीं बल्कि मलिन अंतःकरण वाले पापियों से भी घृणा करने लगा। 'प्रत्ययबोध' की ओर लक्ष्य करके ही साहित्यिकों ने 'भाव शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ है चित्त की चेतन दशा विशेष। इति, क्रोध, भय आदि की वासनात्मक अवस्था में किसी चेतन दशा की अपेक्षा नहीं।

वासना या संस्कार प्राणी में केवल क्रिया के समय में ही नहीं और काल में भी बराबर निहित रहता है; पर भाव का विधान केवल उद्दीपन और क्रिया के समय होता है, उसके उपरांत नहीं रह जाता। पात्र के भाव की ही प्रतीति श्रोता या पाठक को रसरूप में होती है। इसी से साहित्यदर्पणकार ने प्रतीतिकाल में ही रस की सत्ता मानी है आगे-पीछे नहीं।

वासना और भाव में दो बातों का और भेद है। वासना की प्रेरणा से जो क्रिया होती है उसका रूप निर्दिष्ट होता है, वह सदा उसी रूप की होती है, पर भाव के अनुसार जो क्रिया होती है वह बहुरूपिणी होती है—अर्थात् वह कभी किसी प्रकार की होती है, कभी किसी की। दूसरी बात यह है कि वासनात्मक प्रवृत्ति 'जीवन प्रयत्न' से सीधा लगाव का होता है, पर भाव के और और लक्ष्य हुआ करते हैं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि 'भाव' का वासनात्मक प्रवृत्ति से कोई लगाव ही नहीं रह जाता। मूल में वासनात्मक प्रवृत्ति बनी रहती है और 'भाव' से उस प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है। 'भाव' की प्रतिष्ठा से बड़ी भारी बात यह होती है कि वासनात्मक प्रवृत्ति में जहाँ पहले केवल विषय के संपर्क-काल में ही क्रिया होती थी वहाँ 'भाव' के संकेत के रूप में स्थिर होने के कारण उक्त काल के पहले और पीछे भी क्रिया होने लगी। गाय अपने बछड़े को सामने पाकर ही प्रसन्न नहीं होती, जंगल से चर कर लौटते समय अपने बछड़े का ध्यान करके भी बड़े उत्साह के साथ बोलती हुई घर लौटती है। मनुष्य अपने विरुद्ध शत्रु की तैयारियों की खबर पाकर

भी क्रुद्ध होता है और आक्रमण के पीछे उसका स्मरण करके भी । इस प्रकार 'भाव' की प्रतिष्ठा से प्राणियों के कर्म क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया । 'भाव' मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है वह क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीर वेगों से भिन्न है ।

'भाव' का विश्लेषण करने पर उसके भीतर तीन अंग पाये जाते हैं—

(१) वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में अंतस्संज्ञा में रहता है (वासना) ।

(२) वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और 'भाव' का प्राकृत स्वरूप है (भाव, आलंबन आदि की भावना) ।

(३) वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न) ।

इनमें से प्रथम का वह अंश जो पितृपरंपरा के बीच उत्तरोत्तर बद्धमूल होता आया है और विषय-संपर्क होते ही उत्तेजित होकर सदा एक ही ढंग की क्रिया (जैसे सुकड़ना, भागना, छिपना) उत्पन्न करता है 'वासना' या संस्कार कहलाता है । दूसरे के अन्तर्गत आलंबन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनके प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आजाते हैं । इस रीति से किसी एक 'भाव' के अधिकार में उच्च और निम्न श्रेणी को अंतःकरण-वृत्तियों और शरीर-व्यापारों का विधान मिलता है । विवेकात्मक बुद्धि व्यापार भी 'भावों' के शासन के भीतर आजाते हैं ।

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ, ज्यों-ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए त्यों-त्यों उनके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गए । भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और लक्ष्यों की स्थापना होती गई; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया । इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं । जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी संतति ही की रक्षा तक था; पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिन्ता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे । इसी प्रकार क्रोध,

घृणा, लोभ आदि अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों के विषय तो 'अमूर्त' तक होने लगे जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्ध दर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं; पर भावों के विषयों और प्रेरित व्यापारों में यह प्रत्यक्ष अनेकरूपता आने पर भी उनका सम्बन्ध भावों के मूल रूपों और उनके मूल विषयों से परोक्ष रूप में बना है और बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे संपत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध में नाच उठता है। प्रत्यक्ष रूप में उसके क्रोध का विषय है वह नया दस्तावेज। पर उस दस्तावेज का सम्बन्ध अंततः जाकर इस बात से ठहरता है कि उसे और उसकी संतति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। अतः उसके क्रोध में और उस कुत्ते के क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है सिद्धांततः कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने में। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि उससे उत्तेजित क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है—वह भी कुछ कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मारपीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जाने वाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर वह प्रच्छन्न रूप उतना मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन 'काव्य' का एक मुख्य कार्य है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों यह काम बढ़ता जायगा, मनुष्य की मूल रागात्मिका वृत्ति से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से परदों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों एक ओर तो काव्य की आवश्यकता बढ़ती जायगी दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के चित्त में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षुब्ध होकर उससे कहेगा—'भाई! तुम सब प्रयत्न इसीलिए न करते हो कि तुम पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं एक झोंपड़ी में बैठा सूखे चने चबाऊँ, तुम्हारे लड़के दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे ठंड से काँपते रहें।' यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रक्खे गए हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को

उत्तेजित करने में समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य का रूप प्राप्त होगा। 'तुमने हमें नुकसान पहुँचाने के लिए दस्तावेज बनाया' इस काव्य में रसात्मकता नहीं।

इसी प्रकार देश की आजकल की दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायें कि 'हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गये हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है, स्त्री-शिक्षा का अभाव है तो वे छंदोबद्ध होने पर भी काव्य पद के अधिकारी न होंगे। सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषय के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तव रूप खड़ा नहीं हो सकता। भावों के अमूर्त विषयों के आधार भी मूल में मूर्त और गोचर मिलेंगे, जैसे यशोलिप्सा में कुछ दूर चलकर उस आनंद के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई पाई जायगी जो अपनी तारीफ कान में पड़ने से हुआ करता है।

काव्य में अर्थग्रहण से काम नहीं चलता, बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिंब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिए हुए बनिये की होगी जिससे हमारे करुण भाव का सीधा लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खा कर ही रहते हैं—इस बात तक हम अर्थग्रहण परंपरा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है इससे रुपये वाले ही घी खा सकते हैं; पर रुपये वाले बहुत कम हैं, इससे अधिक जनता घी नहीं पा सकती, रूखी-सूखी खाकर रहती है।

ऊपर जो भाव का विश्लेषण किया गया उससे यह स्पष्ट है कि 'भाव' का विधान हो जाने पर भी वासनात्मक प्रवृत्ति मूल में बनी रहती है। बात यह है कि आदिम क्षुद्र जंतुओं से पहले सब व्यापार केवल बँधी चली आती हुई सहज प्रवृत्ति के अनुसार होते रहे फिर आगे चलकर उन्नत जंतुओं में प्रवृत्ति के उत्तेजक विषय की 'प्रत्यय' के रूप में धारण भी होने लगी। इस विषय-प्रत्यय के साथ सुख या दुःख की अनुभूति का बोध भी मिला समझना चाहिए।

अतः भाव उस विशेष रूप के चित्तविकार को कहते हैं जिसके अंतर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बन्ध संघटित हों। संक्षेप में—

प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।

मन में प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलंबन आदि प्रत्यय-रूप से प्रतिष्ठित होंगे।

।

ने को

'गालिब' के

चार

रामकली

श्रीराम शर्मा

पुराणों में जहाँ नरकों का वर्णन आता है, वहाँ कुम्भीपाक और रौरव नरकों को बहुत बुरा कहा गया है। रौरव तो घोरतम नरक है और उससे कुछ घटकर कुम्भीपाक है। मनुष्य स्वर्ग और नरक अपने विचारों, व्यवहार और दूषित परिस्थितियों से अपने चारों ओर बना लेता है। विचारों के ताने-बाने से वह एक ऐसा जाल तैयार करता है कि उसके सान्निध्य से ही अपरिचित और तटस्थ आदमियों को तकलीफ होती है। उनका दम-सा घुटने लगता है और उनका जीवन दुखी और क्लेशपूर्ण हो जाता है।

यू० पी० का फतहगढ़ सेण्ट्रल जेल सन् १९४२ के नाटकीय जेलों में से था। पंजाब के जेलों की कड़ाई की बात सुनी है; पर वहाँ अपेक्षाकृत खाने-पीने की कोई तकलीफ न थी। बरेली जेल के ज़ोरो-सितम भी कम नहीं थे। जेल वालों ने वहाँ पर देश के प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित व्यक्ति का अपमान किया। पर वहाँ राजनीतिक बन्दियों में सौहार्द था। विरोधियों के मुकाबले में उनका संगठन था। भोजन-सामग्री और अन्य खाने की व्यवस्था यहाँ अपेक्षाकृत अच्छी थी। लेकिन फतहगढ़ सेण्ट्रल जेल के राजबन्दियों की दशा का चित्रण यदि किया जाए और वहाँ की बातें सीधे-साधे ढंग से भी लिखी जाएँ, तो उन पर कोई विश्वास नहीं करेगा। जो फतहगढ़ सैण्ट्रल जेल में सन १९४२ के आन्दोलन के सिलसिले में नहीं रहा, वह वहाँ की स्थिति और वहाँ के वातावरण का अनुमान नहीं लगा सकता। एक मूल कारण उस परिस्थिति का यह था कि भारतवर्ष के जितने भी सच्चे और बनावटी दल हैं,

उनका वहाँ प्रतिनिधित्व था। उदाहरण के लिए, एक दल के वहाँ एक ही महाशय थे—फोर्थ इण्टरनेशनलिस्ट और जब कोई समस्या-सुलझाने के लिए वहाँ मीटिंग होती थी, तब अपने दल का प्रतिनिधित्व वे करते थे। जेल वालों ने इस पारस्परिक फूट और दलबन्दी का लाभ उठाया। क्रान्तिकारियों के कैम्प में तबले की-सी दुलत्तियाँ चला करतीं थीं। इस वातावरण का मनोवैज्ञानिक कारण यह था कि बहुत से लोगों ने दस-दस और पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष जेलों में बिताये थे और वे अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे। एक दूसरी बात यह थी कि अपने दल की संख्या बढ़ाने के लिए अधिकांश दलों के लागू दलाल जुटे रहते थे। खाने-पीने की सुविधा, शब्दाडम्बर और नीचतम बुराई की बातें करके नये और सीधे व्यक्तियों को फुसला कर दल-विशेष में लाया जाता था। जिसकी संख्या अधिक होती है, वही दल कैम्प की शक्ति में बलशाली मनवाया जाता। कुछ लोगों ने तो यह समझ लिया था कि जेल की ऊधमबाजी से ही वे देश की शासन-बागडोर अपने हाथ में ले लेंगे। अखाड़े भी दलबन्दी के दलदल में दब गये थे। मांस खाने का प्रचार, सिगरेट पीने का प्रचार और अशिष्टता अहेरी की आराधना-सी होती थी। गाँधी जी और नेहरू जी को एक दल तो तू-तडाक से सम्बोधन करता था और फौश गालियाँ देता था। एक बार वहाँ ईंटों, घूँसों और गालियों के प्रहार से समाजवादी दल और क्रान्तिकारी समाजवादी दल (R. S. P.) में जो जंग हुई थी, उसकी चर्चा जहाँ गर्हित है वहाँ बुनियादी समस्याओं को ठीक ढंग से समझने के लिए एक साधन भी है। पेशेवर डकैतों को अपने दल में भर्ती करने की सरगर्मी, कई क्रान्तिकारियों द्वारा तिगड़म से चीज़ों को माँग कर बाकायदा दुकनदारी चलाना, कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार और अन्य ऐसी ही लज्जास्पद बातों में जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि—

मेरा अपना जुदा मामला है;
और के लेन-देन से क्या काम।

हाँ, फतहगढ़ सेण्ट्रल जेल के एकाकीपन, नहूसत और दिमागी परेशानी को दूर करने के साधनों और अपने एक सफल प्रयोग पर कुछ लिखने को तबीयत करती है, अगर वे साधन और प्रयोग न होते, तो फिर 'गालिब' के स्वर में स्वर मिलाकर यही कहना पड़ता—

हस्तीका ऐतवार भी ग़म ने मिटा दिया;
किस से कहूँ कि दाग़े जिगर का निशान है।

पर तोतों को पालने, बिल्लियों और उनके बच्चों की देखभाल, फूलों की तैयारी की तल्लीनता और पुष्पमण्डित वाटिकाओं ने अधिकांश राजबन्दियों को शान्ति और स्फूर्ति दी और उन्हें समझाया कि जीवन-संघर्ष में भलों और बुरों का साथ होता ही है। खल को श्वान की भाँति छोड़ना पड़ता है और फिर—

गुलिस्ताने जहाँ में, फूल भी हैं और काँटे भी;
मगर जो गुलके जोया हैं, उन्हें क्या ख़ार का खटका।

चर्खे की चर्चा और कताई के महत्त्व पर मैं लिख चुका हूँ। आज फतहगढ़ जेल की एक संगिन का एक जिक्र करना है। जिससे वात्सल्य और सद्भावना का उद्रेक होता था और जो जेल की दुनियाँ और बाहर की दुनियाँ में सयोजक थी। अनेक राजबन्दियों ने तोते और मैना पाल रखे थे। पर क़ैदी की हैसियत से मुक्ताकाश विहारी पक्षी को कैद करना मुझे पसन्द नहीं था। जिस बात की हमें स्वयं शिकायत हो, उसी बात को हम करें—यह बात कुछ अच्छी न थी। पर हृदय की शून्यता आदमी के लिए विघातक है। अपने स्नेह को उँड़ेलने के लिए कोई पात्र चाहिए। भावनाओं के प्रदर्शन के लिए कुछ साधन और साध्य होना आवश्यक है। इसलिए राजबन्दी पक्षियों को पालते थे। मेरी तबीयत चिड़ियों के फँसाने की कभी नहीं थी। उनसे निकट-सम्बन्ध—अपनापन—स्थापित करने की अवश्य रही है। जेल-जीवन में भी ऐसा किया। आगरा जेल में एक पण्डुक का जोड़ा पाला था—पिंजड़े में कैद नहीं किया था। फतहगढ़ सेण्ट्रल जेल में गलगल पाली थी और उसका नाम रखा था रामकली।

छोटी गलगल मैना के वंश की है और बड़ी मैना की अपेक्षा जल्दी हिल जाती है। स्टेशनों और खेतों में झुण्ड के झुण्ड कीड़ों और अच्छिष्ट भोजन के टुकड़ों या कणों की तलाश में रसोईघर वाली बैरक के आस-पास तो सर्वभक्षी कौओं और छोटी गलगल के झुण्ड के झुण्ड आते थे। जिस स्थान पर राशन बँटता, वहाँ पर तो गलगल आतुर बनी दृष्टि से मँडराया करतीं। रोटी का टुकड़ा या रंधे हुए चावल मिल जाते तो उन्हें वे गपक लेतीं। मक्खन पर

तो वे मुग्ध थीं। मक्खन कहीं जरा-सा भी मिलता, तो वे उसे बड़े स्वाद से सटकतीं। यदि कहीं मक्खन का परिमाण कुछ अधिक हुआ जिसे कोई गलगल एकदम न निगल पाती, तो उसे हथियाने के लिए और गलगलें उसकी ओर बढ़तीं और दुष्ट कौआ अवसर पाते ही उधर झपट्टा मारता। कौए से बचने के लिए गलगलें बैरक में उड़ जातीं, तो कौए से अवश्य बच जातीं। कभी-कभी बैरक में गलगलें बिल्लियों का शिकार बनतीं। रसोईघरों के अतिरिक्त वे बैरकों और बैरकों से लगे खेलने या बैठने के मैदान में रोज़ी की तलाश में आतीं। बैरकों में खाने की खोज होती। पालतू न्योलों को देखकर कैं-कैं करके खतरे का सिगनल देतीं और रोशनदानों या जंगलों पर बैठ कर स्थिति का अवलोकन करतीं और आवश्यकतानुसार बैरक से बाहर दूर उड़ जातीं। बैरकों और रसोईघरों में आने का उनका समय नियत-सा था। विभिन्न ऋतुओं में वे विभिन्न समय पर आतीं।

पाँच नम्बर बैरक के पीछे वाले मैदान में अपना अड्डा रहता चर्खा कातने और बैठने का। बैरक में तों मैं रात को बन्द होने पर और दिन में थोड़ी देर के लिए जाता। कम्बल बिछाये बाहर ही डटा रहता—गर्मियों की दुपहरी को छोड़कर। खाने की खोज में वहाँ कभी-कभी गलगलें आतीं। सोचा, क्यों न उनको लपकाया जाए और हिलाया जाए। मक्खन पर तो वे जान देती थीं। मक्खन का डब्बा चर्खे के पास रख लिया और जैसे ही तीन-चार गलगलें कीड़े-मकोड़े या अन्य खाने की चीज़ों की खोज में निकलीं कि मैंने मक्खन की एक गोली उनकी ओर फेंकी। बस, फिर क्या था। टोली की टोली में धमाचौकड़ी मच गई। एक गलगल ने वह मक्खन धर पाया और फिर उससे छीनने के के लिए उसकी साथिन गलगलें पिल पड़ीं। मक्खन लेने वाली गलगल—रामकली—उड़कर पास के आम के पेड़ पर जा बैठी। फिर उसने मक्खन सटकने का प्रयास किया; पर अन्य गलगलें उसके पीछे लगीं थीं। शाखों और पत्तों में उड़कर उसने बचने की कोशिश की; पर उसकी पिछाई नहीं छोड़ी गई। अवसर पाते ही रामकली मक्खन सटक गई और फिर एक दम नीचे उड़ आई और चर्खे से कोई दो गज़ की दूरी पर आ बैठी और अपनी भाषा में कच-कच और खिच-खिच करने लगी, मानो कहती थी—देखता क्या है। तेरे द्वार पर मँगते खड़े हैं। भिक्षा दो। माँग-सी काढ़े और सिर झुका-झुका कर वह माँग रही थी। उसकी साथिनें भी याचना की मुद्रा में खड़ी थीं। उनकी भावभंगी इस

बात की द्योतक थी कि उन्हें इस बात की शिकायत थी कि मक्खन उन्हें क्यों नहीं दिया गया। रामकली में ही कौन से सुरखाब के पर लगे हैं, जो उसे मक्खन दिया गया। उन्हें कौन समझाये कि मैंने तो यों ही मक्खन की गोली फैंक दी थी। निकटतम बैठने वाली गलगल ने उसे उठा लिया और मैंने उसका नामकरण कर दिया। मक्खन औरों को भी डाला गया। छीना-झपटी में सबकी पैंतरेबाजी बड़ी भली मालूम होती थी। करीब के नीम पर बैठे कौओं ने मक्खन-वितरण-क्रिया को देखा, तो फौरन उस ओर को वे लपक आये। गलगलें जितनी सरल और सच्ची होती हैं, उतना कौआ तो होता नहीं। कौए की धूर्तता प्रसिद्ध है। हंस और कौए की कथा को सभी जानते हैं कि सोते हुए यात्री के ऊपर हंस ने अपने डैने फैलाकर ऊपर पेड़ से छाया करके यात्री को आराम पहुँचाने की चेष्टा की और कौए ने यात्री के मुँह पर बीट कर दी। यात्री ने जाग कर देखा कि हंस ठीक उसके मुख पर पंख फैलाये बैठा है। यात्री ने आवेश में आकर तीर से हंस को मार दिया। फतहगढ़ जेल में एक बार एक राजबन्दी दोनों हाथों में रखे चाय के गिलास लिए जाते थे कि एक कौआ उड़ता आया और उड़ते में ही गिलास में बीट कर दी। कौए के स्वभाव और उसकी चालाकी से मैं परिचित हूँ। इसलिए कौओं को भगाने के लिए कंकड़ियाँ इकट्ठी करके रख लीं। जब कभी वे गलगलों की ओर बढ़ते, मैं ताक कर उन पर कंकड़ियाँ मारता। फलस्वरूप गलगलें समझ गईं कि उनकी माँग पर मक्खन मिलता है और कौओं की धृष्टता और इच्छा के लिए पत्थर बरसाये जाते हैं उन पर। चार-पाँच मिनटों के सत्संग से हम एक-दूसरे को समझ गये। पाठक कह सकते हैं कि 'खग समझे खग ही की भाषा'; पर तुलसीदास के ही शब्दों में कहता हूँ कि "हित अनहित पशु पक्षिहु जाना।" सौजन्य और स्नेह की सीमा नहीं है। पागल, स्वभाव से क्रूर और पिशाचों की बात दूसरी है।

उस दिन बाद से रामकली अपनी सहेलियों और कुटुम्बे के साथ प्रतिदिन आती। मेरे मक्खन की हिस्सेदार वह अकेली ही नहीं थी, वरन् उसके साथी-संगी भी हिस्सेदार बन गये थे। मक्खन खिलाने में मैं बड़ी आत्मीयता अनुभव करता। एक ऐसा प्राणी तो था जेल में, जो स्नेह और सहानुभूति का सन्देश देकर विहार करता हुआ जेल से बाहर की दुनिया को ले जाता था। गलगल की भाषा तो मैं नहीं समझता था। पर उनकी बोली से—उनके भिन्न-भिन्न स्वरों

से—उनके उल्लास, आतंक और चिन्ता को तो मैं समझता था। दिल की भाषा स्वरों से नहीं बोली जाती। वेदना और क्लेश के रेकार्ड नहीं भरे जाते। हमारा पारस्परिक स्नेह और आत्मीयता बढ़ी और रामकली कुछ ही दिनों में यह समझने लगी कि उसका मेरे ऊपर पूरा अधिकार है। सुबह होते ही वह मेरे बैठने की जगह पर आ जाती। मेरी अनुपस्थिति में वह वहीं बैठकर पंख फुलाती और सिर नीचा करके—झटके से देकर—किच-किच-किच किच्चका स्वर अलापती। परमात्मा ने गलगल के सिर पर विशेष प्रकार के बाल दिये हैं और ऐसा मालूम होता था, मानों रामकली माँग काढ़ कर और श्रृंगार करके आई हो। पर श्रृंगार देखने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ होती हैं। माता, बेटी और बहन के श्रृंगार देखने की दृष्टि में सात्त्विक वृत्ति होती है। मादकता और कामुकता वहाँ होती ही नहीं। रामकली का रूप मेरे लिए एक दिव्य रूप था। जैसे ही मैं चर्खा और मक्खन का डब्बा लेकर अपने स्थान की ओर बढ़ता, रामकली अपनी सहेलियों के साथ मेरे स्वागत को बढ़ती। बैठ कर चर्खा खोलना मुश्किल हो जाता है। चारों ओर शोरगुल मचातीं और मक्खन पाकर ही चैन लेतीं। कई सप्ताह तक यह प्रयोग चला अब मैंने टहल कर मक्खन खिलाना आरम्भ किया। मैं आगे-आगे बढ़ता और वे सब तीतर की भाँति पीछे-पीछे चलतीं और आवाजें करतीं चलतीं मक्खन के लिए। बैरक में जाकर रामकली ने यह भी मालूम कर लिया कि मेरा ढूला (Seat) कौन-सा है। दोपहरी में आराम करने के लिए वह मेरे ढूले के ऊपर दीवार से सटी पौनियों की पोटली पर आकर बैठ जाती और घण्टों वहीं बैठी बैठी गाया करती। गीत की स्वर-लहरी तो समझ में नहीं आती थी; पर उसका गाना उल्लास और आनन्द का द्योतक था। वहाँ बैठी-बैठी वह चैन की बंसी बजाती और मैं पड़ा-पड़ा अपने बाल-बच्चों से समन्वित हो जाता। बस, परेशानी यह हो जाती कि वह वीट इतनी करती कि ढूले पर बिछी साफ चद्दरों पर वीट के धब्बे पड़ जाते। वीट दिन में दसों बार उठाकर फेंकनी पड़ती।

होते-होते रामकली से इतना अपनापन हो गया कि मेरी सीटी को वह पहचान गई। वह उड़ी चली जा रही है और मेरी सीटी के सुनते ही वह फौरन लौट पड़ती और नीचे आ बैठती। उसके प्रति अपने प्रेम-प्रयोग में मैं आगे बढ़ा। मक्खन के डब्बे को देखता और मक्खन नीचे नहीं डालता। उंगली पर ही मक्खन लगा रहने देता। रामकली उड़ कर हाथ पर बैठ जाती और

चोच मारती। मक्खन निकाल कर मैं उँगली पर लगाता और वह मजे में उसे खा लेती। धीरे-धीरे वह इतनी अभय और ढीठ हो गई कि यदि मैं उसे मक्खन नहीं देता, तो चर्खे में चोंच की ठोंकें मारती। चर्खे के मोढ़िए पर बैठकर अपना अलाप प्रारम्भ करती—अन्य साथी कातने वालों के चर्खों की ओर घूम आती। अपना तो वह मेरे ऊपर पूरा अधिकार समझती थी। सिर पर बैठना, कन्धे पर बैठना, चर्खे के मोढ़िए और चर्खे के सामने बैठ कर अपना तराना अलापना—यह सब कुछ वह करती। पर मेरा अनुमान यह था कि उसे यह असह्य था कि कोई उसे छुए। एक दिन एक साथी ने अपनी मूर्खता से उसे पकड़ लिया: उफ़! किस वेदनापूर्ण स्वर में वह चीखी; मानो किसी दुष्टात्मा ने किसी कुलवधू को अपमानित करने का प्रयास किया हो। वह चीखी और चिल्लाई। फौरन ही तो उसे छुड़ाया। छूटते ही तेज गति से वह उड़ गई ओर दो दिनों तक वहाँ आई ही नहीं। बहुत दिनों बाद उसे पता चला कि आदमी मिल कर मारता है। क्या आवश्यकता थी उसके पकड़ने की? हमने अपनी अक्षुण्ण कीर्ति में क्यों बट्टा लगाया? सौन्दर्य और सुषमा मानसिक आनन्द के लिए हैं; नष्ट करने के लिए, भोंड़ेपन से बर्तने और खिलवाड़ के लिए नहीं हैं। तीसरे दिन आई तो दूर-दूर ही रही। सीटी बजाई। उसे पुचकारा। मक्खन फेंका। पर वह काफी डरी हुई थी। उसने दूर पड़े मक्खन को खाया। टूटे सम्बन्ध को फिर जोड़ना पड़ा और पहली स्थिति के आने में पूरा एक सप्ताह लगा।

एक नया प्रयोग रामकली के साथ और किया। जेल में दो आने रोज के फल प्रति बी क्लास नजरबन्दी को मिला करते थे। मैं किशमिश और मुनक्के मँगाया करता। एक दिन मक्खन के अभाव में रामकली को किशमिश डाली। किशमिश को तो वह यों ही गपकने लगी। मक्खन तो कभी-कभी उसकी चोंच की बगल में लग जाता और उसको ठीक करने के लिए उसे अपनी चोंच प्राय: इधर-उधर लकड़ी से; चर्खे से या किसी सूखते कपड़े से पोंछना पड़ता। किशमिशों का स्वाद तो उसे इतना लगा कि उनके मुकाबले मक्खन की कोई कदर ही नहीं रही। और फिर किशमिश खिलाने का मेरा तरीका भी दूसरा हो गया। प्रति प्रातःकाल मुट्ठी में किशमिश भर कर मैं निकलता और रामकली अपने साथियों के साथ जमीन पर बराबर या पीछे चलती। मुट्ठी खोल कर मैं आगे बढ़ता और वह उड़ कर हाथ पर बैठ जाती

और किशमिशें निगलने लगती। कभी-कभी एक किशमिश को चुटकी में पकड़ कर उसे दिखाता और वह उड़ कर अपने पंजे मेरी उँगलियों में जमाती और किशमिश ले लेती। यदि मैं किशमिश को मजबूती से पकड़ लेता, तो कई बार चोंच मार कर वह कैं-कैं करके अपना रोष प्रकट करती कि आखिर यह क्या बेहूदगी थी कि मैं उसे किशमिश नहीं लेने देता। किशमिश खिलाने का एक और प्रयोग बढ़ा। अपने मुँह में, होठों से दाब कर मैं किशमिश रामकली को दिखाता। वह फौरन उड़ कर मेरी ठोड़ी पर बैठती और किशमिश ले जाती। मुझे कितना सुख होता रामकली की आज़ादी और उसके पालतूपन पर। दिन भर वह अपने पास रही और शाम बसेरा लेने वह जेल के बाहर चली जाती। आखिर पिंजड़ों में कैद पक्षियों की अपेक्षा रामकली अधिक सुखी और पालतू थी। उससे एक कौटुम्बिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। सुख का आदान-प्रदान था। स्वार्थ की भावना उच्च स्तर पर आधारित थी।

फतहगढ़ सेण्ट्रल जेल में खटमलों की भरमार थी। शेर, शैतान और गुण्डे से मैं नहीं डरता; पर मच्छरों और खटमलों से घबराता हूँ। दीवारों और ढूलों के छेदों और दरारों में वे लुके-छिपे रहते और रात को खून पीते। नींद हराम हो जाती। मैं दरारों और छेदों में मिट्टी और कड़ुआ तेल मिला कर डालता। एक दिन सिरहाने पौनियों का बण्डल खोला, तो बीसों खटमल उसमें छुपे पाये। सोचा, क्यों न रामकली को बढ़िया भोजन दिया जाए। बण्डल लेकर बाहर गया। सीटी से रामकली को बुलाया। वह आई। पैंनियाँ खोल कर जैसे ही उसे दिखाया, वैसे ही तिरछी नजर से उसने एकटक देखा और फिर वह उन पर जुट गई। शायद किशमिशों से अधिक स्वाद उसे खटमलों के खाने में आ रहा था।

बैरक से पीछे वाली बाल के मैदान से लगी दीवार में बड़ी गलगलों का एक जोड़ा अपना घोंसला बनाया करता था। छोटी गलगलों की देखा-देखी उन्हें भी मेरे पास आने की सूझी। बड़ी गलगलें मुनक्के को अधिक पसन्द करतीं। मुनक्का यदि छोटी गलगलों के पल्ले पड़ जाता, तो उन्हें उसके खाने में बड़ी तकलीफ होती। साबित उनसे वह निगला नहीं जाता। जमीन से पीट-पीट कर टुकड़े करके वे खातीं। इस बीच बड़ी गलगलें या कौए उन पर टूट पड़ते। रामकली तो बैरक में उड़ आती और मुनक्का खाती। बड़ी गल-

गलों को लपकने की बहुत कोशिश की; पर उनसे वह सम्बन्ध नहीं हो सका, जो रामकली और उसकी सहेलियों से।

जून के आखीर में एक दिन रामकली नही आई। आशंका हुई कि कहीं किसी दुर्घटना की वह शिकार तो नहीं हो गई। दिन बीतते गये और वह नहीं आई। रोजाना उसकी याद आती। तोते, कौए और अन्य गलगलें दिखाई देतीं; पर रामकली का कुछ पता न चलता। उसके पास अपना संदेशा कौन ले जाता? यों मन में उसके सुख की कामना करता; पर दो महीने होने आये और वह न आई। साथी कहते उसे बाज खा गया या बिल्ली या न्योले के पेट में वह पहुँची। शायद! पर मुझे एक क्षीण आशा थी कि कहीं रामकली गृहस्थी के जंजाल मे तो नहीं फँसी रह गई! अपने बच्चों के भार के कारण शायद वह अपने पीहर की ओर न आ सकी हो। हाल की विवाहिता लड़कियाँ पीहर जाने के लिए तड़पतीं हैं। भाई के आगमन के लिए मनौती मनाती हैं। माता-पिता से मिलने के लिए तरसती हैं। पर वाह रे गृहस्थी के जंजाल। जहाँ कुछ बच्चे हुए कि पितृगृह सम्बन्धी स्नेह-सरोवर सूखने लगता है। उधर जाने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता। शायद रामकली की जिम्मेदारियाँ कुछ बढ़ गई हों। मैंने उसे मरा नहीं माना। एक दिन जैसे ही मैं कातने बैठा, सितम्बर के शुरू में कि रामकली आ धमकी और साथ में था उसके उसका बच्चा-मुन्ना। इतना सुन्दर और भोला कि अपने बच्चे ब्रजेश की वह याद दिलाने लगा। घर को ब्रजेश को एक चिट्ठी लिखी ब्रजभाषा में कि "बेटा ब्रजेश, मैंने एक गलगलिया पालीऐ। बाकैं एकु बिजेसुऐ। बाकी अम्मा की नाउँ (नाम) मैंने धरौ ए रामकली। बुहात पैं बैठिके खातिऐ।" ब्रजेश की चिट्ठी आई—"बाबूजी, गलगलिया कौ बिजेसु कितनौ बड़ौ होगऔ ऐ। सिब (सब) बातैं लिखौ।"

रामकली खुद तो मेरे पास आती; पर जब उसका मुन्ना आता तब वह आतंकसूचक सिगनल देकर उसको मेरे पास आने से रोकती। कैं-३ (प्लुत) कैं-३ करने में अपनी चोंच पूरी खुली रखती। उसे सावधान करती कि ऐ अनुभवहीन भोले बच्चे, जरा संभलकर रह। आदमी का क्या ठिकाना कि कहीं तुझे पकड़ ले और मुझे तेरा विछोह भुगतना पड़े। पर मुन्ना तो बहुत जल्दी हिल गया और अपनी अम्मा रामकली की भर्त्सना की तनिक भी

पर्वाह न करता। इस प्रकार रामकली और मुन्ना फतहगढ़-जेल में जीवन के बड़े स्नेही साथी बन गये थे।

गत ३० नवम्बर १९४५ को जेल से मेरी रिहाई हुई। जेल से श्री देवेन्द्र शर्मा ने लिखा "आपकी गलगल—रामकली—आपके ढूले पर प्रतिदिन आती है। चारों ओर देखती है और उसे किशमिशें खिलानी पड़ती हैं।"

रामकली ने मेरे हृदय-पटल पर एक अमिट छाप छोड़ी है। लोगों को क्या मालूम कि उसके सत्संग से मुझे कितनी शान्ति मिली। उसकी चितवन और उसकी मुद्रा अब भी ताजा है। वह मुझे कितना पहचानती थी।

वह निगाहें क्यों हुई जाती हैं या रब दिलके पार;
जो मेरी कोताहिए क़िस्मत से मिज़गाँ हो गईं।

पाँच

गोदान और समाजवाद

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी

शास्त्रीय शब्दावली के अनुसार गोदान में आधिकारिक और प्रासंगिक दो कथाएँ पायी जाती हैं। ग्रामीण पात्रों से सम्बन्ध रखनेवाली कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करने वाली कथा प्रासंगिक या गौण है। गोदान में इन दोनों कथाओं को एक सम्बन्ध-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है; परन्तु प्रश्न यह है कि यह प्रयत्न कहाँ तक सफल या समीचीन हुआ है। नागरिक और ग्रामीण पात्रों के बीच सम्बन्ध-स्थापन का कार्य गाँव के ज़मींदार रायसाहब द्वारा पूरा होता है। गाँव की रामलीला देखने के लिए रायसाहब के नागरिक मित्र उनके घर आते हैं। यहीं 'मालती-हरण' का एक मनोरंजक और अनोखा दृश्य दिखाया जाता है। दूसरी ओर ग्रामीण पात्र 'गोबर' कुछ दिनों तक शहर में रहता है और उपन्यास के नागरिक पात्रों के सम्पर्क में आता है; परन्तु नागरिक और ग्रामीण पात्रों का यह सम्मिलन इतना घनिष्ठ नहीं होता कि एक दूसरे के जीवन-क्रम को प्रभावित करे और समस्त कथानक को समन्वित कर एक ही मुख्य कथा का अंग बनाले। पारसी नाटकों में प्रायः मुख्य कथा के साथ हास्य या विनोद-प्रधान एक दूसरी कथा जुड़ी रहती थी, जिसका प्रयोजन होता था मुख्य कथा की गम्भीरता को कम कर दर्शकों का मनोरंजन करना। वास्तव में वे दोनों कथाएँ एक दूसरे से भिन्न और स्वतंत्र होती थीं। किसी भी स्थल पर उनके कथा-तन्तु जुड़े नहीं होते थे। ऐसी रचनाओं में कथानक की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता।

गोदान उपन्यास के उक्त दोनों कथानक यद्यपि परस्पर इतने असंबद्ध नहीं हैं, फिर भी उनमें वास्तविक ऐक्य की कमी अवश्य है।

नगर की इस प्रासंगिक कथा का संपूर्ण उपन्यास के उद्देश्य से क्या सम्बन्ध है, इस पर भी विचार करना चाहिए। 'गोदान' निश्चय ही ग्रामीण जीवन का उपन्यास है। यदि उसमें नागरिक पात्र आते हैं, तो उनका ग्रामीण पात्रों की गतिविधि से किसी-न-किसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध होना ही चाहिए। ऐसा न होने पर उपन्यास के उद्देश्य या कार्य की एकरूपता में बाधा पड़ेगी। उपन्यास में दो कार्य या दो उद्देश्य नहीं हो सकते; दो स्वतंत्र जीवन-चित्रण नहीं किये जा सकते, अन्यथा उसकी अन्विति नष्ट हो जायगी।

ग्राम्य जीवन या ग्रामीण वातावरण में सफेदपोश नागरिक समाज प्रायः दो उद्देश्यों से ही रक्खा जा सकता है—(१) तुलना के द्वारा ग्रामीण परिस्थिति की विषमता को स्पष्ट करना और प्रभाव को तीव्र बनाना। (२) नागरिक पात्रों द्वारा ग्रामीण-जीवन में सुधार लाने का प्रयत्न करना। पहली स्थिति में नागरिक पात्र ग्रामीण-समाज के उत्पीड़क के रूप में दिखाये जा सकते हैं और दूसरी स्थिति में वे उसके सहायक और सुधारक हो सकते हैं; परन्तु यदि इन दो में से एक भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती और उपन्यास में नागरिक और ग्रामीण पात्र दो स्वतंत्र उद्देश्यों को लेकर चलते हैं, तो उपन्यास की वह दोहरी योजना समीचीन नहीं कही जा सकती।

गोदान उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं; जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है। वे कभी-कभी आते-जाते मिल लेते हैं और कभी-कभी किसी बात पर झगडा भी कर लेते हैं; परन्तु न तो उनके मिलने में और न झगड़ने में ही कोई सम्बन्ध स्थापित होता है, जिसे स्थायी कहा जा सके।

प्रेमचन्द का 'गोदान' उपन्यास एक सीधे-सादे कथानक पर आश्रित है। वह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करता है। करुण रस का ही उसमें प्राधान्य है। इस करुण रस प्रधान ग्राम्य चित्र को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र नहीं कहा जा सकता। वर्तमान युग का भारतीय राष्ट्र नवजागृति की अंगड़ाइयाँ लेकर उठ रहा है। उसके जीवन में

संघर्ष है; परन्तु उस पर विजय पाने की कामना भी है। उसमें दैन्य और दुख है; परन्तु उनके निवारण का महान संकल्प भी है। हमारे देश में पिछले समय जो राष्ट्रीय संघर्ष हो रहा था, जिसके परिणामस्वरूप देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, वह अभूतपूर्व था। गोदान में इस सामाजिक उत्थान का कोई निर्देश नहीं है।

गोदान में नागरिक पात्र भी आए हैं। शिक्षित होते हुए भी उनमें वह राष्ट्रीय चेतना कम ही दिखाई देती है, जो उन पात्रों को ऊँची चारित्रिक भूमि पर प्रतिष्ठित करती। पूरे उपन्यास को पढ़ लेने पर वर्तमान युग के सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का बहुत ही कम आभास होता है। ऐसी अवस्था में इसे युग की प्रतिनिधि रचना कहना सुसंगत न होगा।

गोदान को समाज का सर्वतोमुखी चित्रण भी नहीं कह सकते। उसका देश और काल सीमित है। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में होने वाले सांस्कृतिक विनिमय का उसमें कोई उल्लेख नहीं है। उत्तर प्रदेश के एक छोटे ग्राम से ही उसका कथानक सम्बन्धित है। यद्यपि ग्राम के विविध वर्गों और प्रतिनिधियों का उल्लेख अवश्य है, फिर भी सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से इसमें पर्याप्त विशालता नहीं है।

गोदान के कथानक में चरित्रों की संख्या भी थोड़ी है और ग्राम तथा नगर के चरित्र मिलकर भी युग-जीवन का यथेष्ट परिचय नहीं करा पाते। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उपन्यास का लक्ष्य राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करना है। वह तो केवल भारतीय कृषक की असहाय अवस्था को दिखाकर समाप्त हो जाता है। नागरिक चित्रण का उद्देश्य भी नवीन पाश्चात्य संस्कारों को उसकी ऊपरी तड़क-भड़क के साथ दिखाना है। ये दोनों ही लक्ष्य उतने व्यापक और सर्वस्पर्शी नहीं हैं कि इनके आधार पर गोदान को युग की प्रतिनिधि कृति कहा जा सके।

भारतवर्ष के वर्तमान जीवन में इतनी धाराएँ और अन्तर्धाराएँ, विचारों-आदर्शों की इतनी अनेकरूपता, साथ ही राष्ट्रीय उद्योग का इतना बड़ा समारम्भ चल रहा है कि उसे किसी एक उपन्यास में बाँध सकना अत्यन्त कठिन है। कम-से-कम गोदान के लेखक का विचार इतने समारम्भ को अपनी कृति में स्थान देने का न था। कहा जा सकता है कि विस्तार में न सही, गहराई

में यह उपन्यास युग का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें भारतीय जीवन की करुणा 'होरी' के रूप में साकार हो गई है। होरी मानो देश की वास्तविक स्थिति का प्रतिनिधि है; परन्तु इस आधार पर भी हम इस उपन्यास को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करते नहीं पाते। यदि उपन्यास के नायक में इतनी तीव्र संवेदना का भाव होता, जिसके आधार पर हम इसे विपन्न भारत का प्रतिनिधि या प्रतीक चित्र मान सकते, तो भी एक बात थी। वास्तव में प्रेमचंद जी सीमित देश-काल को लेकर वर्तमान ग्रामीण जीवन का दिग्दर्शन ही करना चाहते हैं। गोदान में न तो महाकाव्य-के-से औदात्य और उत्कर्ष का समारम्भ आया है और न गहनतम उच्छ्वास का-सा सीमित और तन्मयकारी प्रभाव ही व्यक्त हो पाया है। हमारी दृष्टि में वह राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास की उन शर्तों को पूरा नहीं करता जिन्हें टालसटाय का 'वार एण्ड पीस' उपन्यास करता है।

किसी भी कलाकृति को किसी वाद के अन्तर्गत रखना एक खतरे का काम है। विशेषकर उपन्यास-रचना का कार्य जीवन के नाना दृश्यों के चित्रण का कार्य है। कहानी में अथवा नाटक में हम फिर भी किसी एक सिद्धान्त या वाद को आधार बना सकते हैं, यद्यपि इस कार्य में भी कहानी तथा नाटक की स्वाधीनता पर आघात लगे बिना न रहेगा। वादों के लिए उपन्यास सबसे अनुपयुक्त साहित्यिक सृष्टि है। उपन्यास में पग-पग पर जीवन की वास्तविक स्थिति और पात्रों की प्रगति का उल्लेख करना पड़ता है। वाद में तो कोई-न-कोई बंधी विचारधारा होती है, जिसके साँचे में साहित्यिक रचना को उतार देना आवश्यक होता है ; अतएव यह स्पष्ट है कि यह कार्य उपन्यास-द्वारा करना अत्यन्त कठिन है।

यदि किसी लेखक के कुछ सुनिश्चित विचार हैं, जिनको वह अपनी कलाकृति में रखना चाहता है, तो प्रायः अपनी उक्त कृति के प्रधान पात्रों द्वारा वह उन विचारों को उपस्थित कर सकता है। विचारों को अभिव्यक्त करते हुए पात्रों की स्थिति का पूरा ध्यान रखना पड़ता है और प्रत्येक अवसर पर उस स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली बात ही कहलाई जा सकती है। ऐसी अवस्था में नायक या अन्य प्रधान पात्रों द्वारा कहलाई गई बातें, किसी वाद का रूप ग्रहण कर लें, यह बहुत कुछ असंभावित है। उपन्यास में आए हुए वे वाक्य उन-उन पात्रों के चरित्र-विकास से सम्बन्ध रखते हैं तथा उन-उन स्थलों की परि-

स्थिति के अनुरूप होते हैं; अतः ऐसे वाक्यों का तांता लगा देना, जिनसे उन पात्रों के चरित्र में योग न मिलता हो और न वहाँ की परिस्थिति की अनुरूपता ही आती हो, रचना को उपदेशात्मक, कृत्रिम और असम्बन्ध बना देगा। कोई कथाकार इस खतरे को नहीं उठा सकता।

आधुनिक उपन्यास के विकास में समाजवादी विचारों के अनुकूल कुछ कृतियाँ अवश्य प्रस्तुत की गई हैं; परन्तु उन कृतियों को समाजवादी उपन्यास कहना समीचीन नहीं है। उदाहरण के लिए हम गोर्की के उपन्यासों को लें। यह स्पष्ट है कि गोर्की के उपन्यास उस सामाजिक क्रान्ति का पूर्ण विवरण देते हैं जो श्रमिक वर्ग द्वारा की गई थी और जिसके विरोध में सत्ताधारी वर्ग या समुदाय था परन्तु उन चित्रणों में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का आधार लिया गया है और वास्तविक जीवन का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यासों को श्रमिक वर्ग के विद्रोह-युग की कृति कहा जा सकता है; परन्तु उन्हें समाजवादी कृति कहना संगत न होगा। न तो समाजवाद के समस्त बौद्धिक निष्कर्ष इन उपन्यासों में आये हैं और न किसी वाद या विचारधारा को चित्रणों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हुई है। हम यह कह सकते हैं कि इन उपन्यासों द्वारा समाजवादी राष्ट्र के जीवन का चित्रण हुआ है, परन्तु यह नहीं कह सकते कि इनमें समाजवाद का चित्रण हुआ है।

मार्क्सवादी साहित्य-शैली यथार्थवादी शैली होती है। मार्क्स और लेनिन दोनों ने इस बात की घोषणा की है कि समाजवादी साहित्य में यथार्थवादी चित्रण का ही स्वरूप आ सकता है। आदर्श और कल्पना-प्रधान चित्रण समाजवादी साहित्य के लिए ग्राह्य नहीं है। इसका कारण यह है कि मार्क्स के मत में समाजवाद एक भौतिकतावादी विज्ञान है और उसके मूल में वैज्ञानिक यथार्थ ही कार्य करता है। ऐसी अवस्था में सारा समाजवादी दृष्टिकोण यथार्थवाद पर आश्रित है। अपने को समाजवादी कहने वाले लेखक शैली तथा विचारों में यथार्थवाद को ही अपनाते हैं।

प्रेमचंद जी की कृतियाँ यथार्थवाद से बहुत दूर हैं। शैली में भी प्रेमचन्दजी तर्क-प्रधान बौद्धिक शैली को छोड़कर प्रायः भावात्मक शैली को अपनाते हैं। उनकी दृष्टि भी भौतिकवादी नहीं है और न समाज का वह साँचा ही अपने दृष्टि-पथ में लाते हैं, जिसका आधार मार्क्सवादी समाजवाद है। अतः हम देखते हैं कि शैली की दृष्टि से, दार्शनिक आधार पर अथवा समाज-कल्पना

के रूप में, प्रेमचंद जी का साहित्य मार्क्सवादी स्वरूप से नितान्त भिन्न है। अपने आरंभिक उपन्यासों में तो प्रेमचंद जी स्पष्टतः सुधारवादी रहे हैं। मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था सुधार की भूमि को स्वीकार नहीं करती। वह क्रान्ति और प्रायः रक्तक्रान्ति का ही संदेश सुनाती है। गोदान में प्रेमचंद जी की स्थिति उनके अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कहाँ तक भिन्न है, इस पर विचार करना आवश्यक है। गोदान का कथानक ग्रामीण जीवन का कथानक है। उसका नायक एक भारतीय कृषक है। गोदान में भारतीय ग्राम के अनेकमुखी जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। भारतीय कृषक के समस्त संस्कारों से युक्त उसकी वर्तमान दशा का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास का नायक होरी आरम्भ में अपने घर में एक गाय रखने को लालायित है। वह किसी प्रकार गाय ले भी आता है। आगे का कथानक होरी के गाय रख सकने के सामर्थ्य की परीक्षा करता है—वह कृषक उस गाय को रख सकने में असमर्थ हो जाता है। उसका परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है और जब वह मरता है तब 'गोदान के लिए न तो उसके पास गाय है, न बछिया और न पैसा।' उसकी स्त्री धनिया (बीस आने की सुतली जो आज बेची थी, उसी) बीस आने का गोदान करा देती है। उपन्यास के इस आरम्भ और उपसंहार में भारतीय कृषक की दयनीय अवस्था का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है; परन्तु समाजवादी रचना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं।

इस उपन्यास का उद्देश्य भारतीय ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को उपस्थित कर ग्रामीण जीवन की स्थिति का उद्घाटन करना है। यह कार्य समाजवाद का ही पोषक है. यह आवश्यक नहीं। प्रेमचंद जी ने इस उपन्यास में कोई मार्ग-निर्देशन नहीं किया है। अपने अन्य उपन्यासों में प्रेमचद जी ने आदर्शात्मक चर्चा की है और कुछ उपन्यासों में तो सामाजिक सुधार के लिए किसी संस्था-विशेष की स्थापना भी करादी है। इन उपन्यासों में प्रेमचंद जी का सुधार-सम्बन्धी वाद झलक भी उठता है, पर गोदान में किसी भी वाद की स्पष्ट सूचना नहीं दी गई है। ऐसी अवस्था में हम गोदान को न तो समाजवादी कृति कह सकते हैं और न किसी अन्य वाद से ही उसका सम्बन्ध निर्धारित कर सकते हैं।

छः

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव

रामधारी सिंह दिनकर

कवि और वैज्ञानिक के बीच समता क्या है, भेद क्या है ? समता सिर्फ एक बात को लेकर है कि कवि और वैज्ञानिक, दोनों प्रेरणा के आलोक में काम करते हैं। जैसे संसार की सभी श्रेष्ठ कविताएँ प्रेरणा की कौंध से जनमी हैं, उसी प्रकार विज्ञान के भी आविष्कार प्रेरणा की कौंध से उत्पन्न होते हैं। सत्य की झलक पाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी चेतना की सुई ठीक ध्रुव की ओर हो। यह अवस्था समाधि और एकाग्रता से प्राप्त होती है। इसी अवस्था में पहुँचने पर कवि को कविता सूझती है और वैज्ञानिक को आविष्कार सूझता है। लेकिन इस एक साम्य के बाद मुझे कविता और विज्ञान के बीच भेद ही भेद दिखायी देते हैं। वैज्ञानिक नियम की खोज में रहता है, शब्दों का व्यवहार वह सुनिश्चित अर्थ के लिए करता है और उसकी हर चीज़ परिभाषित होती है। किन्तु कविता मनुष्य के जिस अनुभूति-क्षेत्र से आती है, उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती। और शब्द को सुनिश्चित अर्थ कवि कैसे देगा ? वह तो विचार और शब्द, शब्द और उसके अर्थ के बीच भटकता रहता है।

वैज्ञानिक केवल शरीर पर काम करता है। कवि की यात्रा शरीर और आत्मा के बीच है।

वैज्ञानिक केवल सत्य को देख सकता है। कविता सत्य, शिव और सुन्दर —तीनों का दर्शन एक साथ कर सकती है।

कविता नैतिक भी हो सकती है तथा अनैतिक भी। किन्तु विज्ञान नैतिक

अनैतिक कुछ भी नहीं होता। वह दोनों से तटस्थ होता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि जिस वैज्ञानिक ने परमाणु बम बनाया था, उसने हिरोशिमा काण्ड के बाद स्वीकार किया था कि बम बनाकर मैंने पाप किया है। तब विज्ञान पर भी नैतिकता के नियम लागू क्यों नहीं किये जाते हैं, जैसे वे साहित्य पर लागू हैं ?

विज्ञान मनुष्य के हाथ में जो शक्ति देता जा रहा है, उसका उपयोग मनुष्य किस उद्देश्य के लिए करे, यह बात विज्ञान नहीं बता सकता। किन्तु कविता उसे बता सकती है, यदि कवि केवल शब्दों की आराधना में अपने को समाप्त न कर दे।

कविता परदानशीन, आरामतलब औरत है, जो बादलों पर लेट कर फूल सूँघती है। उसके मुख से केवल सुगन्धित वाक्य निकलते हैं।

विज्ञान चीड़-फाड़ के कमरे में खड़ा यन्त्र-मानव है, जो केवल फार्मूले बोलता है।

आधुनिक कवि (यूरोपीय से ज्यादा भारतीय कवि) विज्ञान की नकल करने को ललचा रहे हैं। वे इस बात को भूल गये हैं कि कविता जहाँ-जहाँ से रस और संजीवनी लेती थी, वे सभी स्रोत विज्ञान के ताप से सूखते जा रहे हैं। कौतुक के लिए पद्य की रचना शायद कम्प्यूटर भी कर सकता है। किन्तु विज्ञान को कविता मैं तब मानूँगा जब वह मनुष्य को प्रेरित करने वाली कविता लिख दे। लेकिन यह वह कभी नहीं करेगा। कम्प्यूटर वही चीज़ उगलेगा, जो मनुष्य उसे खिलायेगा। विज्ञान का सारा क्षेत्र मन की सीमा के भीतर है। किन्तु कविता मन की सीमा के बाहर से भी आती है।

विज्ञान ने मानव के जीवन में जो उलट-फेर कर दिया, जो उथल-पुथल मचा दी, उस पर संवेदनशील कवियों ने विलाप किया है।

औद्योगिक सभ्यता जब इंग्लैंड में ज़ोर से फैली, मैथ्यू आर्नल्ड घबरा गये थे। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा था, "आधुनिक जीवन विचित्र रोग से ग्रस्त हो गया है, जल्दबाजी इसकी बीमारी है, उद्देश्य इसके केन्द्रित नहीं, छिन्न-भिन्न हैं, इसके दिमाग पर इतना बोझ है कि वह उसे ढो नहीं सकता और इसका दिल हरदम धड़कता रहता है।"

इलियट ने कहा था कि लय के बारे में हमारी आधुनिक धारणा शायद

अन्दर से जलने वाले इंजिन की गति से प्रभावित हो गयी है। यह स्पष्ट ही गूढ़ व्यंग्य की उक्ति है, क्योंकि इलियट को वैज्ञानिक सभ्यता से निराशा हुई थी।

कोई यह मत समझे कि आर्नल्ड या इलियट के समय में आकर ही कवियों के भीतर विज्ञान के खिलाफ प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गयी थी। यह प्रतिक्रिया रोमांटिक सम्प्रदाय के कवियों में ही उत्पन्न हो गयी थी। एकालाजी से उत्पन्न संवेदना वर्ड्सवर्थ में थी और इसी कारण उन्हें पेड़ काटकर कारखाना बनाने का काम पसन्द नहीं आया था।

मनुष्य पर प्रभाव तो दुर्जन की भी संगति का पड़ता है। विज्ञान को न हम दुर्जन कह सकते हैं, न सज्जन। फिर भी उसके साथ बढ़ने वाले बुद्धिवाद ने हमारी धारणाओं को बदल दिया है। अतएव यह जानना रोचक है कि विज्ञान का प्रभाव साहित्य पर कहाँ तक पड़ा है।

वैज्ञानिक युग का साहित्य उस युग से पूर्व के साहित्य से किन रूपों में भिन्न है ?

पहले जब राम या कृष्ण के चरित्र लिखे जाते थे, तब उन्हें धर्म-संस्थापक और दुष्कृत-विनाशक ईश्वरावतार के रूप में चित्रित किया जाता था। यह विज्ञान का प्रभाव है कि अब वे समाज-सुधारक, लोक-आराधक अथवा संशय-ग्रस्त मनुष्य के रूप में दिखाये जाते हैं। साधुओं और संन्यासियों के चरित्र भी पहले उच्च कोटि के दिखाये जाते थे। केवल 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में उन्हें व्यभिचारी के रूप में चित्रित किया था। लेकिन यह अपवाद था। किन्तु थाय और 'चित्रलेखा' में काम के समक्ष संन्यास की पराजय का जो दृश्य अंकित हुआ है, उसे नये जमाने ने खूब पसन्द किया है। इसी प्रकार अगर कर्ण के रथ के चक्के धरती में धँस गये थे, तो यह बात अब खोलकर कहनी होगी कि वहाँ दल-दल था। और कौरव की सभा में यदि भगवान कृष्ण ने विराट रूप दिखाया था, तो पाठकों को अब यह बात भी समझा देनी होगी कि भगवान के विराट होने पर छतें नहीं टूटी थीं, दीवारें नहीं गिरी थीं। और कच-देवयानी की कथा कहनी हो तो इसका उल्लेख नहीं करना चाहिए कि कच ने शुक्राचार्य से संजीवनी विद्या कैसे सीखी थी। उस कहानी में कच और देवयानी का प्रेम ही प्रधान है।

पुरानी कविता में शयन-कक्ष में मणियों के दीप बलते थे। और नायिकाओं

को जब संकोच होता था, तब वह पुष्परेणु, मुट्ठी भर फेंककर दीपक की ज्योति को छिपा देती थीं। अब नायिकाओं को संकोच कम होता है, संकोच हो भी तो बिजली का बटन दबा देना लज्जा से बचने का सुगम उपाय है। जैसे विज्ञान ने जीवन में खोज-खोजकर उन सभी रहस्यों को रहस्यहीन कर दिया, जिन्हें लेकर पहले लोग आश्चर्य करते थे, वैसे ही साहित्य के बहुत से रहस्य-कुंज विज्ञान के प्रभाव से उजाड़ हो गये। अब उनका आश्रय लेकर कविताएँ नहीं लिखी जा सकतीं।

विज्ञान और टेकनालॉजी के प्रचार से साहित्य के परिवेश में परिवर्तन आ गया और उसका बड़ा भारी प्रभाव साहित्य पर पड़ा है यह बिल्कुल स्पष्ट है। संध्या के भीतर एथेराइज्ड रोगिणी का रूपक पहले नहीं देखा जा सकता था। वैसे ही 'एल्युमुनियम के हंस' की कल्पना उस समय नहीं की जा सकती थी, जब हवाई जहाज नहीं थे। किन्तु विज्ञान का प्रभाव रूपकों और बिम्बों तक ही सीमित नहीं रहा है। साहित्य के भीतर वह अत्यन्त गहराई में उतर गया है। उसका प्रभाव साहित्य की शैली पर भी पड़ा है और उससे साहित्य का भाव भी आक्रान्त हुआ है।

भाव पक्ष में सबसे बड़ा परिवर्तन शायद बुद्धिवाद को लेकर आया है। बुद्धिवाद का चरम प्रभाव यह हुआ कि सृष्टि यन्त्र समझी जाने लगी, जिसके पुर्जे गणित और यन्त्र विज्ञान के अनुसार काम करते हैं। इस मान्यता से स्वभावत: ही यह अनुमान निकल आया है कि सृष्टि यदि यन्त्र है, तो इसके निर्माण के लिए ईश्वर की कल्पना अनिवार्य नहीं है। फिर खगोलवादियों ने यह कल्पना रखी कि पृथ्वी गोल है और असंख्य गोल नक्षत्रों की तरह वह भी शून्य में लटकी हुई है। इससे मनुष्य की यह कल्पना नष्ट हो गयी कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र है तथा ईश्वर की योजना में उसका कोई खास स्थान है।

तब डारविन का 'जीवों की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने यह स्थापना रखी कि आदमी ईश्वर का पुत्र नहीं है, वह बन्दर से बढ़कर आदमी हुआ है। फिर मार्क्स आये उन्होंने स्थापना यह रखी कि धर्म, नैतिकता, कला और अध्यात्म के क्षेत्र में मनुष्य ने जो भी मूल्य निरूपित किये हैं, वे लोकोत्तर मूल्य नहीं हैं। इन मूल्यों का विकास समाज की अर्थ-व्यवस्था के अनुसार हुआ है। अतएव धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता तथा पाप और

पुण्य की भावनाओं को लोकोत्तर चेतना से संपृक्त मानना कोरा अन्धविश्वास है। आदमी अपना कोई भी निर्णय लेने में स्वतन्त्र नहीं है। सभी निर्णय वह उस अर्थ-व्यवस्था के अनुसार लेता है जिसमें उसका जन्म और विकास हुआ है।

और सबके अन्त में फ्रायड का मनोविज्ञान आया, जिसने यह कहा कि आदमी का जप, तप, योग और वैराग्य, सभी ऊपरी बातें हैं। वह अपने किसी भी कार्य में स्वाधीन नहीं है। उसके भीतर अपनी और मनुष्य-जाति की युगों की अगणित अदम्य वासनाएँ दबी पड़ी हैं और आदमी के कर्म इन्हीं अज्ञात वासनाओं की प्रेरणा का अनुगमन करते हैं। सच तो यह है कि हम इन वासनाओं का उपभोग नहीं करते, ये वासनाएँ ही हमारा उपभोग करती हैं, हम उन्हें नहीं जीते, उन्हीं के द्वारा हम जिये जाते हैं।

मनोविज्ञान की एक अन्य शाखा आचरणवाद ने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य अपने आचरण में स्वतन्त्र नहीं है। परिस्थितियाँ जैसी होती हैं, मनुष्य का आचरण भी वैसा ही होता है।

डारविन ने मनुष्य से उसका देवत्व छीन लिया। मार्क्स ने आदमी की सदाशयता की जड़ खोद डाली। और फ्रायड ने यह सिद्ध कर दिखाया कि आदमी का अपने को बुद्धिवादी समझना बिल्कुल फालतू बात है। सो बुद्धिवाद का असली प्रभाव यह निकला कि आदमी को यह मान लेना पड़ा कि वह बुद्धिवादी नहीं है।

न्यूटन, डारविन, मार्क्स और फ्रायड, इन सभी चिंतकों का प्रभाव एक-दूसरे को पुष्ट करने वाला है। किन्तु, वर्गीकरण करने का प्रयास किया जाए, तो पता यह चलेगा कि आस्तिकता को अवलम्ब देने वाला आधार सबसे अधिक न्यूटन और डारविन के कारण नष्ट हुआ है, यद्यपि कहा जाता है कि न्यूटन खुद आस्तिक मनुष्य थे। साहित्य में जो प्रगतिवादी धारा फूटी, उसके उत्स मार्क्स हैं। और अभिनय साहित्य में जो काम की अंधी आराधना प्रचलित हो गयी है, उस धारा को सर्वाधिक प्रेरणा फ्रायड से मिली है।

जब से समाज में विज्ञान को अपरिमित प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी, विद्या की ऐसी अनेक शाखाएँ अपने को विज्ञान कहने को ललचाने लगी हैं, जो सचमुच विज्ञान नहीं हैं। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि अब कवि भी भाव और शैली, दोनों ही क्षेत्रों में विज्ञान का अनुकरण करना चाहता है। चूंकि

विज्ञान आवेशमयी भाषा का प्रयोग नहीं करता, इसलिए, नये कवि और लेखक भी आवेशमयता से बचे रहना चाहते हैं। चूँकि विज्ञान शब्दों के मामले में मितव्ययी होता है, अतएव नवलेखन भी शब्दों की मितव्ययिता बरतना चाहता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्दों की मितव्ययिता से साहित्य की शक्ति बढ़ती है। उसे पहले के भी साहित्यकार सदैव बरतते थे। और चूँकि विज्ञान का लक्ष्य वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन होता है, अतएव नये लेखक और कवि भी कल्पना की लगाम हमेशा अपने हाथ में रखते हैं और बराबर सतर्क रहते हैं कि उनका वर्णन अतिरंजित न हो जाए। वैज्ञानिक का एक लक्षण यह भी है कि वह दूसरों को प्रभावित करने को न तो एक शब्द लिखता है न एक शब्द बोलता है। अगर वह दूसरों को प्रभावित करने की इच्छा से लिखने या बोलने लग जाय, तो जनता वैज्ञानिक पर श्रद्धा नहीं, सन्देह करने लगेगी। मेरा खयाल है, यह विज्ञान का ही प्रभाव है कि साहित्य में अब 'ढेटारिक' गुण नहीं, दोष माना जाने लगा है। विज्ञान का एक गुण यह भी है कि वह निन्दा और स्तुति, दोनों से तटस्थ रहकर सत्य की शोध में लगा रहता है। वैज्ञानिक युग के उत्तम साहित्यकार भी लिखते समय निन्दा और स्तुति से परे रहकर केवल यह सोचते रहते हैं कि जो कुछ वे लिखना चाहते हैं, वह चीज़ ठीक से उनकी समझ में आ रही है या नहीं तथा लिखते समय वे उसी का यथातथ्य वर्णन करते हैं अथवा निन्दा के भय या प्रशंसा के लोभ से कुछ इधर-उधर भी बहक रहे हैं।

केवल एक कठिनाई है जिस पर कवियों को विजय नहीं मिल रही है और वह यह कि विज्ञान में एक शब्द एक ही अर्थ देता है, किन्तु साहित्य में एक शब्द से अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं। मेरा सोचना यह है कि यह अच्छा है कि कवि इस कठिनाई का पार नहीं पा रहा है। क्योंकि जिस दिन साहित्य में प्रयुक्त शब्द भी एक ही अर्थ देने लगेगा, उस दिन लक्षणा और व्यंजना की लीला समाप्त हो जायगी और एक मात्र अभिधा पर अवलम्बित हो जाने के कारण साहित्य भी साहित्य न रहकर किसी प्रकार का विज्ञान बन जायेगा।

विज्ञान के प्रभावों को स्वीकृत करने का लोभ सबसे पहले अंग्रेजी के मेटाफिजिकल कवियों में जगा था। मेटाफिजिकल कवि बुद्धि और मन की सीमा से परे देखने की कोशिश नहीं करता, वह चिंतन का अभ्यासी होता है। वह कल्पना को कुहासे के पास नहीं छोड़ता, चीजों को वह अधिक से

अधिक पास लाकर देखता है। प्रीति भी ऐसे कवियों में हृदय की वस्तु न रहकर मस्तिष्क की चीज बन जाती है। विचार को भावना के धरातल पर लाकर देखने मे मेटाफिजिकल कविता बनती है। मेटाफिजिकल से अध्यात्म की ध्वनि निकलती है, किन्तु मेटाफिजिकल काव्य आध्यात्मिक काव्य नहीं है। डोन आध्यात्मिक कवि नहीं थे, आध्यात्मिक कवि ब्लेक थे और वह मेटाफिजिकल नहीं थे। मेटाफिजिकल विशेषण से तात्पर्य यह है कि जैसे दार्शनिक और वैज्ञानिक अपने तर्कों को ठीक कसावट में रखते हैं, वैसे ही मेटाफिजिकल कवि की कविता में भी तरंग और फेन नहीं, लोहे का कसाव होता है। यहाँ शब्दों में तो मितव्ययिता होती ही है, मितव्ययिता विचार में भी बरती जाती है और कल्पना कभी भी बेलगाम नहीं हो पाती। स्पष्ट है कि यह शैली विज्ञान से प्रभावित होती है, अतएव वह कड़ी और कुछ रुक्ष भी होती है।

मेटाफिजिकल काव्य का आनन्द सम्बुद्धि (इनटूइशन) की लहर का आनन्द नहीं होता। यह वह आनन्द है जो बुद्धि की विजय और तर्कों की सार्थकता से उत्पन्न होता है। विज्ञान और मेटाफिजिकल काव्य दोनों का ध्येय बुद्धि को संतृप्ति देना है।

साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव पड़ रहा है और वह हमारे रोके रुकने वाला नहीं है। किन्तु सोचने की बात यह है कि क्या यह प्रभाव सदा वांछनीय है, क्या वह अमिश्रित वरदान है। साहित्य के भाव और शैली-पक्ष पर विज्ञान के जो प्रभाव पड़े हैं, उनमें से अनेक वांछनीय हैं, मगर अनेक ऐसे भी हैं जिन्हें देखकर मुझे चिन्ता होती है। विज्ञान की 'एकुरेसी' यानी यथातथ्यता को अपनाने की चिन्ता कवियों में बहुत अधिक हो गयी है और इसे मैं चिन्ता का विषय मानता हूँ। कविता का विलोम गद्य नहीं, विज्ञान है। फिर विज्ञान का अनुकरण हम कहाँ तक करेंगे ? क्या और क्यों पर सोचते-सोचते दर्शनों का जन्म हुआ था। 'कैसे' पर सोचते-सोचते विज्ञान उत्पन्न हुआ है। कथ्य दर्शन है, शैली विज्ञान है। अगर कथ्य को छोड़कर हम सारा जोर शैली पर देंगे तो निश्चय ही कविता से कवित्व का लोप हो जाएगा।

कविता संस्कृति है, सभ्यता विज्ञान है। संस्कृति का नाम सुनते ही हमें कृष्टि, खेती या गाँव की याद आती है। किन्तु सभ्यता नगरों का गुण है। विज्ञान ने महानगरों की संख्या भी बढ़ा दी है। और दिनोंदिन वह उनकी

संख्या में वृद्धि करता ही जाता है। आज संसार के दस-बारह महानगरों की समस्या मानव जाति की समस्या समझी जा रही है, दस-बारह महानगरों की रुचि मानव मात्र की अभिरुचि बताई जा रही है। साहित्य पर महानगरों का आज जितना प्रभाव है, उतना प्रभाव पहले कभी नहीं था। इसे भी हम विज्ञान का ही प्रभाव मानते हैं।

वैज्ञानिक सभ्यता सबसे बड़ा ढिंढोरा इस बात का पीटती है कि बुद्धिवाद के तीखे औजार से उसने मनुष्य की सभी जंजीरें काटकर उसे सभी दासताओं से मुक्त कर दिया है, जो दावा एक तरह से ठीक भी है। अफसोस की बात यह है कि मनुष्य को यही मालूम नहीं है कि इस मुक्ति को लेकर वह क्या करे। बुद्धिवाद, टेकनालॉजी और विज्ञान द्वारा सिद्ध मुक्ति, उस गरुड़ की मुक्ति नहीं है, जो डैने खोलकर आकाश में उड़ता है, बल्कि वह इस कुत्ते की मुक्ति है, जो जंजीरों से छूटकर सड़क पर आ गया है और ट्राफिक में कुचल जाने के भय से इधर-उधर भाग रहा है। खुला कुत्ता जो भी चाहे, कर सकता है, जहाँ भी चाहे जा सकता है। लेकिन उसे यह कौन बताये कि उसे कहाँ जाना चाहिए और चारों ओर के खतरों से अपनी रक्षा कैसे करनी चाहिए। विज्ञान शक्ति देता है, यह बात ठीक है। किन्तु, आदमी उस शक्ति का उपयोग किस उद्देश्य के लिए करे, यह संकेत बराबर धर्म दिया करता था। और चूँकि विज्ञान के प्रतापी होने से धर्म निरादृत हो गया, इसलिए विज्ञान से अर्जित शक्तियाँ मनुष्य के लिए अभिशाप बन गई हैं।

जो साहित्य विज्ञान के प्रभाव में रचा गया है और जो वैज्ञानिक युग से पूर्व रचा गया था, उन दोनों की तुलना से मुझे तो यही दिखाई देता है कि मध्यकालीन जगत में केवल दोष ही दोष नहीं थे। वह गहरे अन्धकार के साथ उज्जवल प्रकाश का भी समय था। यह ठीक है कि उस समय मनुष्य अपने परिवेश को कम जानता था, मगर इसलिए वह अपनी आलोचना भी थोड़ी ही करता था। जब दुनिया अँधेरी थी आसमान साफ था। जब दुनिया रोशनी से भर गयी, आसमान पर अँधियाली छा गयी। पहले मनुष्य को सत्य वहाँ भी दिखाई देता था, जहाँ वह था नहीं। अब जो सत्य है उस पर भी आदमी का विश्वास टिकता दिखाई नहीं देता है। मध्यकालीन युग केवल तिमिरग्रस्तता का शिकार नहीं था, वह आनन्द और संतोष से भी प्रकाशित काल था, जब आदमी चीज़ों में विश्वास करता था और खुशी की रोशनी में जीता था।

लन्दन के घण्टाघर की आवाज़ उस समय संसार भर के लोग भले ही न सुनते रहे हों, लेकिन अपने पड़ोसियों के कराहने की आवाज़ उन्हें सुनाई देती थी। उस समय आँसू आज की अपेक्षा ज़्यादा बहते थे और अधिक सहजता से बहते थे। उस समय कारीगरी के बनाये सामान ही बेचे जाते थे, खुद कारीगर नहीं बिकता था।

मध्यकालीनता की यह बातें बड़ी अच्छी थीं। किन्तु विज्ञान की गर्म हवा लगने से मनुष्य का भावना-स्रोत सूख गया। अब साहित्य में हम ऐसे लोगों का चरित्र-चित्रण देखने लगे हैं, जो मिलते तो बहुत लोगों से हैं, मगर जिनका परिचय किसी से भी नहीं हो पाता। निःसंगता, अकेलापन और जिन्दगी से ऊब इस कदर बढ़ गयी है कि अब दार्शनिक पूरी गंभीरता से यह सोचने लगे हैं कि आखिर जिन्दगी जीने के योग्य है भी या नहीं। साहित्य पर यह सारा प्रभाव वैज्ञानिक सभ्यता ने डाला है।

मगर इतना कुछ हो जाने पर भी हमारे हाथ क्या लगा है ? आदमी क्या चीज़ ? जन्म के पहले वह कहाँ रहता है ? मृत्यु के उपरान्त वह कहाँ चला जाता है ? यह संसार किसी योजना के अधीन है अथवा वह अकस्मात् उछल-कर हमारे सामने आ गया है ? ईश्वर हो सकता है या नहीं ? अगर वह है, तो इसका सबूत क्या है ? अगर वह नहीं है, तो इसका क्या प्रमाण है ? ये और ऐसे अनेक प्रश्न जो मनुष्य को पहले हैरान करते थे, आज भी हैरान कर रहे हैं। हाँ, पहले का आदमी इन प्रश्नों पर सोचते-सोचते सृष्टि को ईश्वर की लीला कहकर संतोष कर लेता था, आज वह यह कहकर इन प्रश्नों से छुट्टी ले लेता है कि सृष्टि एक तपस्या है, एक अभेद्य रहस्य है। मुझे लीला और अभेद्य रहस्य में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता।

सात

राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का आह्वान

●

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

भारत के एक नागरिक विदेश गये। एक बार वे यूरोप के किसी देश में रेल से यात्रा कर रहे थे। उन्होंने अपने दोनों पैर बूट सहित सामने की सीट पर रख लिए। उनके लिए यह एक साधारण बात थी, क्योंकि हमारे देश में पढ़े-अनपढ़े सभी ऐसा करते हैं।

उनके पास ही बैठे थे एक बूढ़े सज्जन। उन्होंने अपने ओवर कोट की जेब से साफ कटा-छंटा पुराने अखबार का टुकड़ा निकाला और भारत के नागरिक से कहा—कृपा कर जरा अपने पैर उठाएँ।

इन्होंने पैर उठाये, तो उन्होंने पैरों की जगह वह कागज रख दिया और नम्रता से कहा—अब आप पैर रख लीजिए। इस तरह आपके आराम में खलल नहीं पड़ेगा और मेरे देश की यह चीज—सीट की गद्दी—भी खराब नहीं होगी।

धन्यवाद देकर भारत के नागरिक ने कागज पर पैर रख लिए। थोड़ी देर बाद बूढ़े सज्जन ने अपनी टोकरी से केले निकाले, छील कर खाये और उनके छिलकों को वैसे ही एक कागज में लपेटकर जेब में रख लिया।

भारत के नागरिक से न रहा गया और पूछ ही लिया—बुजुर्गवार, ये छिलके आपने जेब में क्यों रख लिए हैं। उत्तर मिला—यहाँ इन्हें मैं कहाँ डालता ? अब स्टेशन पर उतर कर इन्हें कूड़ेदान में डाल दूँगा।

एक होता है नागरिक का अपना चरित्र और एक होता है नागरिक का राष्ट्रीय चरित्र। वह बूढ़ा राष्ट्रीय चरित्र का कितना उत्तम नमूना था कि उसे अपने देश की हरेक चीज की सुरक्षा का ध्यान था और सफाई-स्वच्छता का भी।

भारत के एक नागरिक, जो उम्र में जवान थे और फैशन में ऑक्सफोर्ड, किसी स्टेशन से लखनऊ के लिए रेल में बैठे। दो सीटों के बीच दीवार से सटाकर कुली ने उनका होलडाल खड़ा कर दिया। पास ही वे बैठ गये। फैशन साहबी, पर आदत नवाबी, हर घंटे पान खायें और पान भी तम्बाखू वाला। अब हालत यह कि सामने की सीट पर दोनों पैर रखे, वे पसरे हैं और जहाँ दूसरे मुसाफिर पैर रखते हैं, वहाँ पान की लुआबदार पीक थूके जा रहे हैं।

यह आ गया लखनऊ, वे कूदकर प्लेटफार्म पर आ गये। उनके इशारे पर कुली ने उनका बिस्तर छुआ, तो बोझ ज्यादा। उसने झटके के साथ बिस्तर को दोनों सीटों के बीच, नीचे के तख्ते पर डाला और घसीटकर दरवाजे पर ले आया। उस बेचारे को क्या पता कि यहाँ पान की पीक का पतनाला बह रहा है, पर बिस्तर उस पतनाले के ऊपर से आया, तो पीक उसे प्यारे दोस्त की तरह लिपट गई। साहब का नया होलडाल अब एक दम रंगीन जैसे किसी सीखतड़ ने उस पर पेंटिंग का अभ्यास किया हो।

साहब ने प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े यह देखा, तो झल्ला पड़े—"अबे तू बड़ा बेवकूफ है।" उसी सीट पर एक मसखरे सज्जन बैठे थे। खिड़की से बाहर झांककर बोले—"साहब बहादुर, यह कुली बड़ा नहीं, छोटा बेवकूफ है। बड़ा बेवकूफ तो वह था, जो कुली के आने से पहले ही इस डिब्बे में थूक गया।" कटकर रह गये बेचारे।

एक होता है नागरिक का अपना चरित्र और एक होता है उसका राष्ट्रीय चरित्र। यह साहब बहादुर राष्ट्रीय चरित्र का कितना घटिया नमूना था कि अपने देश की चीजों की सुरक्षा का भाव तो उसमें कहाँ होता, जब उन्हें स्वच्छ-साफ रखने की भावना भी उसमें नहीं थी।

१९४८ में मुझे तीसरी बार प्लूरिसी हुई। मैं चिकित्सा और विश्राम के लिए कुछ महीने मसूरी रहा। उन्हीं दिनों की डायरी के दो पन्ने यहाँ प्रस्तुत हैं :—

डिपो मसूरी की सबसे ऊँची चोटी है। देखने लायक, तो वहाँ कुछ नहीं है, पर है वह रहने लायक जगह। शहरों में ऐसी ताजी और महकती हवा

कहाँ। आज हम उधर को चढ़ चले। थका देने वाली चढ़ाई थी। थक गये, पर पहाड़ी चढ़ाई की थकान कि चढ़े भी जल्दी और उतरे भी जल्दी।

आओ कुछ देर सुस्तायें। प्रस्ताव किसी का हो, समर्थन सबका इसे मिले, पर बैठें कहाँ ? नगरपालिका ने स्थान-स्थान पर सीमेंट की बैंचें डाल रखी हैं। किसी आते-जाते ने बताया—अगले मोड़ पर है बैंच और वहाँ का दृश्य भी सुन्दर है। आशा धीरज की जननी है, हम लोग आगे बढ़े। वह सामने मोड़ और मोड़ के सामने ढलते सूर्य की किरणें बादलों के पेंटिंग बनाने में तल्लीन। यह ब्रुश मारा, वह ब्रुश मारा, यह बना बैल और वह मिटा घोड़ा।

चलो बैंच पर बैठकर देखेंगे यह दृश्य और खायेंगे ताजी हवा, मन ने एक फुरेरी ली कि पिंडलियों ने लम्बे डग भरे। वह दीख रही है बैंच, पगडंडी से एक ओर बचा, एक बड़ा-सा शिलाखण्ड और उस पर रखी लम्बी बैंच। सामने दूर-दूर तक फैली विशाल पर्वत मालाएँ और ठीक नीचे हजारों फिट गहरा खड्ड, हमारे जीवन की तरह, जिसमें शिव और शैतान का एक साथ निवास है। सोचा, नगरपालिका का इंजीनियर भी संभवतः कवि है ! तभी तो क्या बढ़िया जगह चुनी है उसने बैंच रखने के लिए।

दो लम्बी कुलांचे और मैं अब बैंच के पास। मेरे दोनों हाथ बैंच की पीठ पर और मेरी खुली आँखों में बादलों के बनते-बिगड़ते चित्र। मैं भावना की मधुर पुलक में आनन्द-विभोर हुआ जा रहा हूँ कि तभी आया हवा का एक हल्का झोंका और मेरे नाक पर मारा किसी ने तेज चाकू। नाक तो नहीं कटी पर दिमाग भिन्ना गया। यह चाकू खून करने वाला लोहे के फलक का चाकू न था, पेशाब की तेज दुर्गन्ध का चाकू था। बैंच की आड़ का लाभ उठाकर स्वतन्त्र भारत के नागरिक नर-नारियों ने इस स्थान का उपयोग किया था।

कुत्ते भी स्थान देखकर ही पेशाब करते हैं, पर उन—नारियों ने बिना स्थान देखे ही अपनी जरूरत पूरी की थी, क्योंकि इस बैंच से थोड़ी दूर पर ही सरकारी पेशाब घर था। मेरी इच्छा हुई कि मैं पूरे जोर से रो पड़ूं।

मुझे अपनी जरूरत पूरी करनी थी और सामने ही पेशाब घर था। मैं उधर मुड़ा, पर दरवाजे तक अभी पहुँचा-न-पहुँचा कि तेज दुर्गन्ध का एक झोंका भीतर आया। मसूरी की नगरपालिका इन दिनों सरकारी प्रबन्ध (एडमिनिस्ट्रेटर) के हाथों में थी और मैं उनकी सफाई व्यवस्था का प्रशंसक

था, पर इस झोंके की पहली ही झोंक में निन्दा का नशा मुझ पर छा गया— जाने कब से इस पेशाब घर में पानी की बूंद नहीं पड़ी। मजा आ जाये, अगर एक रात के लिए एडमिनिस्ट्रेटर साहब को इसमें बन्द कर दिया जाये।

जरा आगे बढ़कर मैंने देखा कि भीतर पाँच मनुष्यों के लिए स्थान और पाँचों स्थानों पर पाँच पढ़े-लिखे सज्जन खड़े हैं। मैं बाहर लौटने को ही था कि देखा कि दूसरे पेशाब घरों की तरह यह भी प्रवाही (फ्लश सिस्टम वाला) है और तीसरे स्थान के ऊपर वह साफ लगी है पानी की टंकी, जिसमें लटक रही है जंजीर। इसमें नीचे एक छोटा कड़ा भी है कि उसमें दो उंगली डालें और दें जरासा झटका कि बस पाँचों स्थानों में बह जाये पानी ही पानी और दुर्गन्ध ऐसी भागे कि जैसे घर वालों के जागते ही चोर भागता है।

मेरे पैर ठिठक गये। मैंने देखा, वे पाँचों सज्जन रूमालों से अपनी नाक दबाये खड़े हैं। क्या टंकी खराब है? मेरे मन में नया प्रश्न उपजा कि मैंने आगे बढ़कर कड़े के द्वारा जंजीर को जोर का झटका दिया। पाँचों स्थानों के नल बादल की तरह बरस पड़े।

वे बरसे, मैं बाहर आया। मेरे पीछे एक दाढ़ी वाले सज्जन बाहर आए। उनकी पतलून के पांवचे नीचे से भीग गए थे और बूटों में पानी आ गया था। मुझे उन्होंने कड़वी आँखों से घूरा कि इतने में वे चारों भी भीतर से बाहर आ गये। छींटे तो सभी पर तकड़े पड़े थे, पर शायद दाढ़ी वाले सज्जन दीवार से ज्यादा सटकर खड़े थे, इसीलिए उनकी पतलून पूरी तरह रसवर्षिनी हो गई थी।

तमक कर बोले—क्यों जी, यह आपने क्या हिमाकत की। मैं इस समय स्वयं लड़ने की नहीं, तीतर लड़ाने की मूड़ में था। मुस्कराकर मैंने कहा— हिमाकत? वह तो आपकी जान बचाने की हिमाकत थी जनाब।

गुर्राकर बोले—जान बचाने की कैसी हिमाकत?

मैंने अपने गले को पूरी तरह ठंडा करके एक तेज आलपीन चुभाया— आप नाक को इतनी जोर से दबा रहे थे कि मुझे आपका दम घुटने का खतरा दिखाई दिया और भाई जी, यह तो बकरे भी जानते हैं कि दम घुटने से जान चली जाती है।

एक दूसरे साहब बीच में टपक पड़े—फिर आपको जंजीर ही खींचनी

थी, तो धीरे से खींचते । आपने तो ऐसा झटका मारा कि जैसे कोई बड़ी मुसीबत आ पड़ी हो ।

बुजुर्गाना लहजे में मैंने कहा—हाँ जी, मैंने यही समझा कि आप बड़ी मुसीबत में हैं ।

वे समझ गये कि इस पत्थर पर जोक नहीं लग सकती और खिसके । अपनी भीगी पतलून को झटका देते हुए वे सज्जन बोले—ऐसे-ऐसे जाहिल भी मंसूरी आ जाते हैं । मैंने उनकी व्यंग्य कविता को संगीत के स्वर पर चढ़ाते हुए कहा—जी हाँ, यही तो बात है कि ऐसे-ऐसे जाहिल मसूरी आ जाते हैं कि बदबू में मरते रहते हैं, पर जंजीर नही खींचते ।

दिमाग में जोशीले लड़कपन का जो उबाल आया था, वह उतर गया, तो एक उदासी मुझ पर छा गई—यों ही मैं उन बेचारों से उलझा । उनका या किन्हीं दूसरों का इसमें कुछ भी दोष नहीं । उनसे पहले जाने कितने नागरिक आ चुके होंगे । वे सभी इस दुर्गन्ध के सृष्टा थे, पर सभी उसके शिकार भी ।

एक होता है नागरिक का अपना चरित्र और एक होता है नागरिक का राष्ट्रीय चरित्र । बैंच की आड़ में पेशाब करने वाले नर-नारी, नागरिक के चरित्र की दृष्टि से और राष्ट्रीय चरित्र की दृष्टि से भी बुरे से बुरा नमूना थे, क्योंकि उनमें उचित स्थान देखकर जरूरत पूरी करने की नागरिक शालीनता भी नहीं थी और राष्ट्र के स्वच्छ-सुन्दर स्थानों को स्वच्छ-सुन्दर रखने की उदात्त राष्ट्रीय भावना का भी अभाव था ।

और सरकारी पेशाब घर के वे पाँच सज्जन ? वे कर्महीन थे, जिनमें राष्ट्र द्वारा नागरिकों को प्रदत्त सुविधाओं का लाभ उठाने की भी वृत्ति नहीं, राष्ट्र को अपनी ओर से सुविधा देने की तो बात ही दूर ! वे दो पैर के पशु थे, जो डंडे से हंकते हैं, स्वयं सोच विचार कर चलते नहीं ।

प्रिंस क्रोपाटकिन का रूस के नये इतिहास में वही स्थान है, जो भारत के नये इतिहास में लोकमान्य तिलक का । रूस ज़ारशाही से मुक्त हो गया था और लेनिन महान रूस की समाज व्यवस्था को समाजवादी रूप देने में जुटे हुए थे । रूस के नागरिकों को नपा-तुला भोजन मिलता था, और पूरे देश के दूध का पनीर बनाकर विदेशों को भेजा जाता था, जिनसे बदले में मशीनें खरीदी जाती थीं । रूस के नागरिक दूध से वंचित थे । एक दिन लेनिन ने कहा—मैं

आपके लिए एक गाय भेजने की—विशेष व्यवस्था करता हूँ—प्रिंस क्रोपाटकिन ने कहा— मैं भी रूस का एक नागरिक हूँ, इसलिए मैं अपने लिए कोई—विशेष व्यवस्था—नहीं चाहता। और कुछ दिन बाद प्रिंस क्रोपाटकिन की मृत्यु हो गई।

दूसरे महायुद्ध के बाद जापान में भी राशनिंग करना पड़ा। सब नागरिकों को नपा-तुला अन्न मिलता था। एक रिटायर्ड जनरल की खुराक ज्यादा थी। राशनिंग में मिलने वाला अन्न कम पड़ता था, वे भूखे रह जाते थे। पास पड़ौसियों ने उन्हें कहा कि सरकार से कुछ ज्यादा अन्न देने की प्रार्थना करें, पर उनका उत्तर था—युद्ध के कारण देश में अन्न की कमी है। सरकार व्यवस्था को सम्भाल रही है, मैं सरकार का काम बढ़ाना नहीं चाहता। दूसरे नागरिक भी बहुत-सी दिक्कतें बर्दाश्त कर रहे हैं। मैं भी सबके साथ रहूँगा और रोज की भूख से धीरे-धीरे उनकी मृत्यु हो गई।

दूसरे महायुद्ध के बाद की बात है। इङ्गलैंड टूटा-फूटा पड़ा था, हर चीज की कमी थी। भारत की अन्तरिम सरकार के एक मन्त्री किसी सम्मेलन में लन्दन गए। वहाँ की सरकार ने इधर-उधर जाने-आने के लिए एक टैक्सी दी और पैट्रोल के कूपन की एक कापी भी। पैट्रोल पर कन्ट्रोल था, पर सरकारी कूपन से कहीं भी, कितना भी लिया जा सकता था।

सम्मेलन के बाद मन्त्री जी जब भारत लौटने लगे, तो उस कापी में पाँच कूपन बाकी थे। टैक्सी के ड्राइवर से उन्होंने कहा—लो, ये कूपन तुम ले लो, तुम्हें इनसे लाभ होगा—अपनी टैक्सी के लिए पैट्रोल ले लेना। मन्त्री जी का ख्याल यह था कि टैक्सी ड्राइवर इससे खुश होगा, उन्हें झुककर सलाम करेगा, पर वह तो सुनते ही गुस्से से भर गया—आप मुझे बेईमान समझते हैं। मैं आपकी राय में गद्दार हूँ कि अपनी सरकार को धोखा देकर अपने हिस्से से ज्यादा पैट्रोल ले लूंगा। आपके देश में ऐसे ही नागरिक होते हैं। आप ये कूपन अपने स्वागत-अधिकारी को लौटाइए। मैं इन्हें कैसे ले सकता हूँ ?

एक होता है नागरिक का अपना चरित्र और एक होता है नागरिक का राष्ट्रीय चरित्र। प्रिंस क्रोपाटकिन, जापानी जनरल और इङ्गलैंड का ड्राइवर नागरिक के अपने और राष्ट्रीय चरित्र के उत्तमोत्तम नमूने थे। देश में यदि किसी चीज की कमी है, तो अच्छे चरित्र का नागरिक उसे धीरज के साथ

सहता है और इस प्रकार देश की सरकार को और समाज को अच्छी परिस्थितियाँ पैदा करने की शक्ति देता है, हाय-हाय करके या हुल्लड़ मचाकर या भ्रष्टाचार फैलाकर हाथ-पैर नहीं फुलाता, अव्यवस्था नहीं फैलाता ।

भारत के विख्यात दार्शनिक विद्वान श्री भीखनलाल आत्रेय एक दर्शन-परिषद् में भाषण देने अमेरिका गए। उनके पास वापसी टिकट था । लौटने के दिन वह टिकट कहीं गिर गया । वे हवाई अड्डे पर गए, तो अधिकारी ने कहा—आप दूसरा टिकट खरीदकर भारत चले जायें और हमारी कम्पनी को लिखें । खोए हुए टिकट का मूल्य निश्चित रूप से आपको मिल जाएगा । आत्रेय जी के पास दूसरा टिकट खरीदने को रुपये नहीं थे । उन्होंने सोचा, अभी हमारे हवाई जहाज में कई घन्टे हैं, उन स्थानों पर देख आयें, जहाँ-जहाँ हम आज गए थे, सम्भव है कहीं हमारा टिकट मिल ही जाए ।

वे हवाई अड्डे से चलकर पास के चौराहे पर आए, तो देखा कि दो युवक खड़े बात कर रहे हैं और डाक्टर आत्रेय का खोया टिकट एक हाथ में है, जिसे उसने ऊपर उठा रखा है कि आते-जातों को दूर से दिखाई दे । आत्रेय जी उनके पास पहुँचे और कहा—बन्धु, यह टिकट मेरा है ।

युवक ने तुरन्त वह टिकट डा० आत्रेय को दे दिया और कहा—जनरल स्टोर के बाहर यह टिकट हमें मिला, तो हम यहाँ आकर खड़े हो गए कि आप इधर आयेंगे, तो टिकट हम आप को दे देंगे ।

भाव-विभोर होकर डा० आत्रेय ने पूछा—मैं आपको न मिलता, तो आप क्या करते ? उनका उत्तर था—हमने सोच लिया था कि जिनका टिकट है, वह समय से पहले हवाई अड्डे पर जरूर आयेंगे । इसलिए आप न मिलते, तो हम थोड़ी देर में हवाई अड्डे जाकर यह टिकट वहाँ के आफिस में जमा कर देते और आप जब वहाँ पहुँचते, तो यह आपको मिल जाता ।

एक होता है नागरिक का अपना चरित्र और एक होता है नागरिक का राष्ट्रीय चरित्र । वे युवक दोनों चरित्रों के उत्तमोत्तम नमूने थे, क्योंकि उन्होंने एक दूसरे नागरिक की असुविधा को अनुभव किया, उसे अपनी परेशानी माना और उसे दूर करने का योजनापूर्वक प्रयत्न किया ।

भाई ब्रज किशोर नारायण लन्दन में थे और एक मित्र के घर गपशप करके

रात में १२ बजे अपने स्थान पर लौट रहे थे। सड़क सुनसान थी। चौराहा आया, तो लाल बत्ती हो गई, वे तो पैदल थे, पर उन्होंने देखा कि उनके पीछे से आने वाला एक अंग्रेज साईकिल सवार साईकिल से नीचे उतर कर खड़ा हो गया और हरी बत्ती की प्रतीक्षा करने लगा।

पूरे चौराहे पर ये दो ही नागरिक थे। ब्रजकिशोर ने उससे पूछा—न इस समय कोई सवारी है, न मुसाफिर, न सिपाही, इसलिए एक्सीडेंट (दुर्घटना) या चालान का खतरा नहीं है। फिर आप साइकिल से क्यों उतरे और क्यों खड़े हैं ?

उत्तर मिला—लाल बत्ती को देखकर रुकना राष्ट्रीय नियम है। मैं जानता हूँ कि इस समय दुर्घटना का खतरा नहीं है, पर मैं राष्ट्रीय नियम को भंग करूँगा, तो इससे मेरी नागरिकता लांछित होगी और मेरी आदत भी बिगड़ेगी।

एक होता है नागरिक का अपना चरित्र और एक होता है नागरिक का राष्ट्रीय चरित्र। यह अंग्रेज नागरिक, नागरिक के चरित्र और राष्ट्रीय चरित्र का आदर्श प्रतिनिधि था, क्योंकि उसमें अपनी आदतें ठीक रखने का अनुशासन भी था और राष्ट्रीय नियमों का स्वेच्छा से पालन करने की दृढ़ता भी।

१९४६-४७ में भारत के श्रम मन्त्री श्री जगजीवन राम लन्दन गए। उनके घुटनों में दर्द रहता है, इसलिए नाश्ते में वे अंडा लेते हैं। जर्मनी के भयंकर बंबार्डमेन्ट के कारण इङ्गलेंड के मुर्गीखाने टूट गए थे, इसलिए अंडा दुर्लभ था। स्वागत अधिकारी ने दो दिन प्रयत्न किया, पर जगजीवन राम के लिए अंडा नहीं मिल सका। उन्होंने स्वागत अधिकारी से कहा—आपके यहाँ अंडों की इतनी कमी है, तो फिर अंडों पर खूब ब्लैक होता होगा।

उत्तर मिला—युद्ध के बाद जब नई व्यवस्था आरम्भ हुई, तो एक-दो बार ब्लैक हुआ था। किसी गरीब नागरिक को डाक्टर की सिफारिश पर चार अंडे मिले। उसने धनपति पड़ोसी के हाथ ज्यादा दाम लेकर उन्हें बेच दिया। मुहल्ले वालों को पता चला तो उन्होंने ब्लैक करने वालों का घर घेर लिया और उनकी इतनी निन्दा हुई कि उन्हें मुहल्ला छोड़कर जाना पड़ा। बस, इसके बाद अंडों पर ब्लैक करना असम्भव हो गया।

एक होता है नागरिक का अपना चरित्र और एक होता है नागरिक का राष्ट्रीय चरित्र। अंडे के ब्लैक की निन्दा करने वाले मुहल्ले के नागरिक,

नागरिक के निजी और राष्ट्रीय चरित्र का सर्वोत्तम नमूना थे, क्योंकि वे अव्यवस्था और भ्रष्टता फैलाने वाले दोषों से स्वयं बचे और उन्होंने अपने व्यवहार से ऐसा वातावरण बना दिया कि उसमें अव्यवस्था और भ्रष्टता के बीज पनप नहीं सकते ।

ऐसे चरित्र के नागरिक ही राष्ट्र की सर्वोत्तम शक्ति हैं और यह चरित्र ही नागरिकों का और राष्ट्र का जीवन-धर्म है । याद रखने लायक बात यह है कि नागरिक के निजी और राष्ट्रीय चरित्र से देश में अनुशासन पनपता है और अनुशासन से देश की शक्ति बढ़ती है और एकता मजबूत होती है ।

आठ

हिमालय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

रामायण और महाभारत हमारी सभ्यता और संस्कृति के अक्षय भण्डार हैं। इन ग्रन्थों में देवतात्मा नगाधिराज हिमालय की चर्चा अनेक रूपों में पाई जाती है। इस पर्वत के प्रत्येक शिखर, प्रत्येक नदी, प्रत्येक सरोवर के विषय में और उनके इर्द-गिर्द रहने वाली जातियों के विषय में ब्यौरेवार चर्चा है। ऐसा जान पड़ता है कि हमारे पूर्वज इन विषयों के सम्बन्ध में हमसे कहीं अधिक स्पष्ट और सच्ची जानकारी रखते थे। यह भी जान पड़ता है कि भारतीय जनता—जिसे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महामानव समुद्र कहा है—इन हिमालय वासी लोगों के बहुतेरे वंशधरों को अपने भीतर आत्मसात् कर चुकी है। हिमालय में बसने वाली जातियों के सम्बन्ध में महाभारत और रामायण में बड़ी प्रीति भावना का परिचय मिलता है। उन्हें देवयोनी का जीव माना गया है, उनके शील और कलाप्रियता की प्रशंसा की गई है, उनके शौर्य की उच्छ्वसित प्रशंसा की गई है और मलेच्छ-असुर आदि विदेशियों की तुलना में अधिक धर्मपरायण और आत्मीय समझा गया है। कभी-कभी इन जातियों के साथ मैदान में रहने वालों का संघर्ष भी बताया गया है, पर अधिकतर ये जातियाँ सहायक और मित्र के रूप में चित्रित हैं। इन जातियों के वंशधर भारतीय मैदान में उच्च-कुलीन क्षत्रिय राजवंश के रूप में सम्मानित हुए हैं और भारतीय धर्म और संस्कृति के पुरस्कर्ता और रक्षक बताए गए हैं। वस्तुतः हिमालय पर्वत की विभिन्न उपत्यकाओं में बसने वाली जातियाँ सदा

आत्मीय समझी गई हैं। इनके सम्बन्ध में जो बहुत सी पौराणिक लगने वाली अनुश्रुतियाँ मिलती हैं वे कुछ तो उन्हीं जातियों में प्रचलित कथाओं का भारतीय रूपान्तर हैं और कुछ उनके प्रति प्रीति भाव के अतिरेक के कारण गढ़ ली गई हैं। ज्यों-ज्यों विद्वानों का अनुसंधान इस दिशा में अग्रसर होता जा रहा है, त्यों-त्यों हमारे पूर्वजों की जानकारी आश्चर्यचकित करने वाली सिद्ध हो रही है।

रामायण की कथा अयोध्या से चलकर लंका की ओर बढ़ती है। सम्भवतः वह भारत के मध्यदेश और सुदूर दक्षिण के प्रदेशों से अधिक सम्बद्ध है। पर किसी-न-किसी बहाने हिमालय उसमें आता ही रहता है। परन्तु महाभारत की कथा उत्तर भारत की कथा ही है। पश्चिम से पूर्व तक फैले हुए हिमालय की चर्चा इस ग्रन्थ में अनेक बार आई है। वस्तुतः चन्द्रवंश की कहानी का आरम्भ ही हिमालय से होता है। पश्चिमी, पूर्वी और मध्य हिमालय के स्थानों और जातियों का इसमें बहुत विस्तृत और विश्वसनीय विवरण प्राप्त होता है जो चीनी और अरबी यात्रियों के विवरणों और तत् स्थानों से प्राप्त होने वाली परम्पराओं से विचित्र मेल रखता है। रामायण और महाभारत में हिमालय के उत्तर में स्थित देशों और जातियों की भी चर्चा है और आधुनिक अनुसंधानों से सिद्ध हो रहा है कि विश्वसनीय भी है। दुर्भाग्यवश साधारण जनता अभी तक इन कहानियों को उचित ऐतिहासिक परिपार्श्व में रखकर देखने की दृष्टि नहीं पा सकी है और या तो उन्हें देवताओं की कहानी मानती है या पौराणिकों की कपोल कल्पना। ठीक ऐतिहासिक परिपार्श्व में समझने का प्रयत्न किया जाए तो जान पड़ेगा कि हिमालय ने उन्हें कितना दिया है। केवल नदियों और अन्य भौतिक समृद्धियों के कारण ही हम उसे अपनी अमूल्य निधि नहीं मानते, उसने भारतीय धर्म, संस्कृति और जनता को अद्भुत ढंग से प्रभावित किया है। वह हमारे अन्तरतर के साथ एकमेक है। वह हमारा प्रहरी नहीं है, हमारी अन्तरात्मा का अभिन्न अंग भी है। वह शिव-पार्वती की बिहार-भूमि है, नर-नारायण की तपोभूमि है, यक्ष-किन्नर-गन्धर्व-विद्याधरों का निवास है। सहस्र-सहस्र ऋषि-मुनियों की आश्रम-भूमि है, गंगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र-सिन्ध-सरस्वती की उद्गम भूमि है। इस छोटी-सी वार्ता में नगाधिराज हिमालय की महिमा और हमारी संस्कृति है। इस छोटी-सी वार्ता में नगाधि-राज हिमालय की महिमा और हमारी संस्कृति से उसके अविच्छेद्य पवित्र

सम्बन्धों का महत्त्व दिखाना असम्भव है। यहाँ कुछ थोड़ी-सी बातों की चर्चा करके ही सन्तोष करना पड़ेगा।

भारतवर्ष की सती नारियों का आदर सारा संसार करता है। क्या कारण है कि भारतीय नारी की मर्यादा उसका सतीत्व, तेज और उत्तम चरित्र इतना लोकमानीय है ? पार्वती सीता का भुवनविश्रुत लोकभावन आदर्श। पार्वती तो नाम से ही प्रकट है कि पर्वत-कन्या है। हिमालय की पुत्री पार्वती का नाम ही नारी चरित्र की सम्पूर्ण शोभा, गरिमा, माधुर्य और पवित्रता की याद दिलाता है। रामायण के बालकाण्ड में बताया गया है कि हिमालय की दो कन्याएँ—पार्वती और गंगा—किस प्रकार इस पवित्र भारतभूमि को भीतर और बाहर से पवित्र कर रही हैं। वहीं यह भी बताया गया है कि किस प्रकार गंगा की सात धाराएँ, तीन पश्चिम की ओर तीन पूर्व की ओर और एक मध्य देश को पवित्र और समृद्ध बनाती हैं। गंगा वस्तुतः भारत की सभी नदियों का नाम है। मध्य देश की गंगा वह मूल स्रोत है जो भगीरथ राजा की अक्लान्त तपस्या से धरती पर उतरी है। हिमालय की यह देन किसी प्रकार भारतीय भूमि और भारतीय जनचित्त से अलग नहीं की जा सकती। पार्वती का एक नाम उमा है जो उपनिषद् काल से प्रसिद्ध है। आधुनिक खोजों से पता चला है कि यह शब्द हिमालय पर बसने वाली महान खस जाति की भाषा से आया है। कोई आश्चर्य नहीं कि कामरूप से गान्धार तक फैले हुए पर्वतीय प्रदेश शिव की शक्तिभूता पार्वती देवी की उपासना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र है। सारी हिमालय भूमि अनादि काल से शक्ति का केन्द्र रही है। तपोनिरता कुमारी पार्वती ने अगस्त्य मुनि की प्रार्थना पर कैलास से कुमारी अन्तरीप तक पैदल यात्रा की थी इसलिए पुराणों में भारतवर्ष की इस भूमि का नाम ही कुमारी का द्वीप बताया गया है और गर्वपूर्वक घोषणा की गई है कि तपोनिरता पार्वती के पवित्र पदसंचार से पावनीकृत इस भूमि में ही वर्ण-व्यवस्था है। इसके बाहर तो अन्त्यजों का, बाद में उत्पन्न होने वाले पिछड़े हुए असंस्कृत लोगों का निवास है। इस प्रकार पार्वती और गंगा हमारे अस्तित्व का ही मेरुदण्ड हैं। हमारे भीतर और बाहर जो कुछ उत्तम है, जो कुछ सुन्दर है, जो कुछ पवित्र है उसको प्रतीक रूप में पार्वती और गंगा व्यक्त करती हैं।

और विदेहराज दुहिता सीता ? रामायण और महाभारत दोनों में पतित

पावनी सीता देवी का यश गाया गया है। कम लोग जानते हैं विदेह देश भारतीय मैदान तक ही सीमित नहीं था। आधुनिक खोजों से बौद्ध ग्रन्थ के उस उल्लेख का समर्थन हुआ है जिसमें बताया गया है कि मेरू के पूर्व में पूर्व-विदेह नामक देव था। डॉ० बुद्धप्रकाश ने हाल ही में पूर्व-त्रिदेह की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला। किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव ने वानरों को सीता की खोज के लिए विभिन्न स्थानों में जाने को कहा था, उसमें हिमालय के विभिन्न स्थानों और जातियों के नाम गिनाये हैं। उसमें यामुन पर्वत का उल्लेख है। लेवी पुराने अभिलेखों से इस नतीजे पर पहुँचे थे कि यामुन पर्वत बाद का रूप है, पुराना शब्द अमून था। अमून आधुनिक मुननांग का ही संस्कृत रूप है। यह आजकल चीनी शासन के अन्तर्गत है। यहीं पूर्व-विदेह था जिसे बाद में गान्धार कहा जाने लगा। फ़ज़्लुल्लाह रसीदुद्दीन अबुलखैर ने इस कंदाहार (पूर्वी गान्धार) को हिन्दू राज्य के रूप में पाया था और इसकी गज सेना की बड़ी प्रशंसा की थी। चीनी इतिहासकारों की गवाही से और वहाँ के ध्वंसाव-शेषों से भी इस बात का समर्थन होता है। ईसामसीह के तीन सौ वर्ष से भी पहले से यह पूर्व-विदेह चला आरहा था, बारहवीं शताब्दी तक इसका इतिहास अटूट रहा है। किसी जमाने में यह हिन्दू राज्य आसाम और मिथिला तक फैला हुआ था। रामायण में विशाला नगरी (बाद की वैशाली) विदेह राजा विशाल द्वारा स्थापित बताई गई है। अमून या यामुन पर्वत के इर्द-गिर्द बसा पूर्व-विदेह (बाद में पूर्वगान्धार) सैकड़ों वर्ष तक मूलभूमि से विच्छिन्न होकर भी चीनी सेना का सफल प्रतिरोध करता रहा। यहाँ से अनेक बौद्ध लेखों और पगोड़ाओं का उद्धार हुआ है। हमारी गफलत से वह अति प्राचीन विदेह भूमि अपरिचित बन गई है। विदेह हिमालय के समूचे पूर्वी छोर के अधिकारी थे। हमारी संस्कृति की आदर्श प्रतिमा वैदेही विदेहराज की कन्या थी। चीनी सूत्रों से विदेह का मिथिला नाम भी मिल जाता है। इस प्रकार वैदेही सीता का सम्बन्ध भी हिमालय से जुड़ता है।

हिमालय की किरात जातियों का इतिहास भी महाभारत और रामायण से मिल जाता है। शिव के उपासक किरातों की चर्चा महाभारत में बहुत है। किरातों और चीनों को महाभारत में साथ-साथ गिनाया गया है। वस्तुतः चीनों को किरात ही भारतभूमि से अलग करते थे, उनकी मध्यस्थता में ही चीनों का सम्पर्क भारतभूमि से होता था। ऐसा जान पड़ता है कि चीन लोग

पूर्व-सीमान्त (प्राग्ज्योतिषपुर) से ही भारत पहुँचे थे। उन्हें पूर्व की जातियों में ही गिना जाता था। उनके चीनांशुक या रेशम का काम भारतवर्ष में पसंद किया जाता था और भारतीय सम्राटों के अभिषेक के समय चीन जाति के प्रतिनिधियों द्वारा भेंट किया जाता था। महाभारत में चीनों के साथ गान्धारों की जो चर्चा आती है यह कदाचित पूर्व-विदेह के निवासी रहे हैं। वनपर्व में हिमालय के कोने-कोने में बसने वाली जातियों की चर्चा है। किरातों को महाभारत में नुकीली चोटी वाले, सोने के रंग के, कच्चा मांस और मछली खाने वाले और बहादुर बताया गया है। सभा पर्व में भी इसका उल्लेख है। इसी प्रकार तुषारों, ऋचीकों, विद्याधरों, किन्नरों, खस्ते, काम्बोदों आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इनके साथ विवाह आदि के सम्बन्धों की बड़ी रोचक कहानियाँ इन काव्यों में पाई जाती हैं। भारतीय महाजाति के निर्माण में, व्रत-उपासना और धार्मिक चेतना के निर्माण में इन जातियों की महत्त्वपूर्ण देन है। भारतवर्ष के महामानव समुद्र को रूप देने में इन जातियों का बहुत महत्वपूर्ण योग है। इनका सम्बन्ध इस देश का आत्मीय सम्बन्ध है। गन्धर्वों, किन्नरों, विद्याधरों और अन्य पार्वत्य जातियों की चर्चा से हमारे दोनों महाकाव्य प्रखर हैं। इनका कला-प्रेम, संगीत-प्रेम और अपेक्षाकृत स्वच्छन्द जीवन भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गए हैं। संगीत को तो गन्धर्ववेद ही कह दिया गया है। हिमालय के विभिन्न भागों में बसी हुई जातियों की परम्पराओं के सम्यक् अध्ययन से हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझाने की आशा है इस समय आवश्यकता है सत्य-जिज्ञासु विद्वान शोधकों की। इस ओर अभी तक हमारे विद्वानों का यथोचित ध्यान नहीं गया है। सरकार को इस दिशा में अधिक प्रयत्नशील होना है। हिमालय हमारी संस्कृति का ही नहीं, हमारे अस्तित्व का भी मेरुदण्ड है। इस विषय में हमारे पूर्वज जितने जागरूक थे उतने हम नहीं हैं।

हिमालय की महिमा अपार है। उसे रामायण और महाभारत में अपधर्ष्व माना गया है। एक बार कैलास को जीतने की दुराकांक्षा रावण के मन में आई थी। उसने यक्षों और गन्धर्वों को जीतकर कैलास पर जोर आजमाने की हिम्मत की थी। नंदी के मना करने पर भी वह नहीं रुका। नन्दी ने कहा था—सर्वेस्वामेव भूतानामगम्यः पर्वत कृतः—यह पर्वत सर्वभूत के लिए अगम्य बताया गया है। रावण नहीं माना। उसने हिमालय के सर्वोत्तम शृंग कैलास

को उठा लेने की कोशिश की। क्षणभर के लिए कैलास डगमगा गया। पर क्षणभर के लिए ही। महादेव ने अपने पादांगुष्ठ से—पैर के अंगूठे से उसे दबाया और फिर त्रैलोक्य काँप उठा। महादेव ने तो उसे गिड़गिड़ाते देख माफ़ कर दिया पर नन्दी का शाप उसे खागया। मदमत्त रावण को वानर-भालुओं की सेना चाट गई। जिस किसी ने इस गिरिराज को मदमत्त होकर हिलाने का प्रयत्न किया उसी की यही दशा हुई है। आज भी मदगर्वित सेनानियों को कहा जा सकता है कि सावधान, चट्टान पर सिर न मारो, रावण की गति को न प्राप्त हो।

हिमालय देवभूमि है। कालिदास ने शिव से पार्वती के प्रति कहलवाया था—पितृ-प्रदेश स्राव देवभूमयः। तुम्हारे पिता (हिमालय) के प्रदेश देवभूमि हैं। यह केवल पवित्रता के कारण ही नहीं कहा गया है। वस्तुतः हिमालय से भारतवर्ष को अनेक प्रकार के रत्न प्राप्त होते रहे हैं। बाल्मीकि रामायण में हिमालय को धातुओं की खान कहा गया है····शैलेन्द्रो हिमवान्ताम् धातूनामाकरो महान् (बाल० ३६-१३) इसी बात को कालिदास ने 'अनेक रत्न प्रभव' कहकर दोहराया है। हमारे पुराने ग्रन्थों में हिमालय के विविध रत्नों के खानों की चर्चा मिलती है। स्वयं बाल्मीकि रामायण में जाद्रूनद (सोना), चाँदी, सीसा, ताम्बा, काला लोहा आदि के मिलने की चर्चा है। (बाल० ३७)

इस प्रकार हिमालय हमारी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का उत्स माना जाता रहा है। हिमालय को भारतीय साहित्य और इतिहास से हटा दिया गया तो वह बहुत निष्प्राण हो जाएगा। हिमालय हमारा प्रहरी है, देवभूमि है, रत्नखानि है, इतिहास-विधाता है, संस्कृति मेरुदण्ड है।

× × × ×

हिमालय भारतीय इतिहास के उस महान संदेश की प्रेरणा-भूमि है जो भोग नहीं त्याग देता है, जड़ शरीर विकारों को नहीं, अन्तरतर को ऊर्ध्वमुखी शम भावना को प्रतिष्ठित करता है, मानसपटल पर उत्थित होने वाली चंचल तरगमाला का नहीं, गुहाहित गट्टोष्ठं तत्व की अविचल स्थिति का गुणगान करता है। इस महामहिम जीवन-दर्शन को किसी समृद्धिशाली नगर की शान-शौकत से प्रेरणा नहीं मिली है। मिली है तो हिमालय की कन्दराओं और दरी गुहाओं में तपोनिरत ऋषियों से। हिमालय में विराजमान मन्दाकिनी के

सीकर निर्झरों की गोद में पले हुए आश्रम, देवदारु द्रुम मंजरियों की सुरभि से सिक्त सरिताओं के तट-प्रदेश और निस्तब्ध भाव से विचरण करने वाले कृष्णसार मृगों से अध्युषित तपोवन हमारी समस्त रसमय संपत्ति के प्रेरणास्रोत हैं। सहस्रों वर्षों से इन केन्द्रों ने भारतीय साहित्य, शिल्प, नृत्य, गीत, नाटक, अभिनय आदि को प्रेरित, चालित और आन्दोलित किया है।

हिमालय केवल पृथ्वी का मानदंड ही नहीं है, वह हमारी अनादि काल से चली आती हुई सांस्कृतिक परम्परा की उत्स-भूमि है, भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, महान है, गौरवास्पद है, उसका आश्रय है। हिमालय हमारा अविच्छेद्य अंग है, ऐसा अंग जो हमारी समस्त सत्ता का भण्डार संचित रखे है।

नौ

सोना हिरनी

महादेवी वर्मा

सोना की आज अचानक स्मृति हो जाने का कारण है। मेरे परिचित स्वर्गीय डाक्टर धीरेन्द्र नाथ वसु की पौत्री सुस्मिता ने लिखा है—

'गत वर्ष अपने पड़ौसी से मुझे एक हिरन मिला था। बीते कुछ महीनों में हम उससे वहुत स्नेह करने लगे हैं। परन्तु अब मैं अनुभव करती हूँ कि सघन जङ्गल से सम्बद्ध रहने के कारण तथा अब बड़े हो जाने के कारण उसे घूमने के लिए अधिक विस्तृत स्थान चाहिए।'

'क्या कृपा करके आप उसे स्वीकार करेंगी ? सचमुच मैं आपकी आभारी हूँगी, क्योंकि आप जानती हैं, मैं उसे ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहती, जो उससे बुरा व्यवहार करे। मेरा विश्वास है, आपके यहाँ उसकी भलीभाँति देखभाल हो सकेगी।'

कई वर्ष पूर्व मैंने निश्चय किया कि अब हिरन नहीं पालूंगी, परन्तु आज उस नियम को भंग किए बिना इस कोमल प्राण जीव की रक्षा सम्भव नहीं है।

सोना भी इसी प्रकार अचानक आई थी, परन्तु वह तब तक अपनी शैशावस्था भी पार नहीं कर सकी थी। सुनहरे रंग के रेशमी लच्छों की गाँठ के समान उसका कोमल लघु शरीर था। छोटा-सा मुँह और बड़ी-बड़ी पानीदार आँखें। देखती थी तो लगता था कि अभी छलक पड़ेंगी। उनमें प्रसुप्त गति की बिजली की लहर आँखों में कौंध जाती थी।

सब उसके सरल शिशु रूप से इतने प्रभावित हुए कि किसी चम्पकवर्णा रूपसी के उपयुक्त सोना, सुवर्णा, स्वर्णलेखा आदि नाम उसका परिचय बन गए।

परन्तु उस बेचारे हरिण-शावक की कथा तो मिट्टी की ऐसी व्यथा कथा है, जिसे मनुष्य की निष्ठुरता गढ़ती है। वह न किसी दुर्लभ खान के अमूल्य हीरे की कथा है और न अथाह समुद्र के महार्घ मोती की।

निर्जीव वस्तुओं से मनुष्य अपने शरीर का प्रसाधान मात्र करता है, अत: उनकी स्थिति में परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ, कथनीय नहीं रहता। परन्तु सजीव से उसे शरीर या अहंकार का जैसा पोषण अभीष्ट है, उसमें जीवन-मृत्यु का संघर्ष है, जो सारी जीवन-कथा का तत्व है।

जिन्होंने हरितिमा में लहराते हुए मैदान पर छलाँगें भरते हुए हिरनों के झुंड को देखा होगा, वही उस अद्‌भुत, गतिशील सौन्दर्य की कल्पना कर सकता है। मानो तरल मरकत के समुद्र में सुनहले फेनवाली लहरों का उद्वेलन हो। परन्तु जीवन के इस चल सौन्दर्य के प्रति शिकारी का आकर्षण नहीं रहता।

मैं प्राय: सोचती हूं कि मनुष्य जीवन की ऐसी सुन्दर ऊर्जा को, निष्क्रिय और जड़ बनाने के कार्य को मनोरंजन कैसे कहता है।

मनुष्य मृत्यु को असुन्दर ही नहीं, अपवित्र भी मानता है। उसके प्रियतम आत्मीय जन का शव भी उसके निकट अपवित्र, अस्पृश्य तथा भयजनक हो उठता है। जब मृत्यु इतनी अपवित्र और असुन्दर है, तब उसे बाँटते घूमना क्यों अपवित्र और असुन्दर कार्य नहीं है, यह मैं समझ नहीं पाती।

आकाश में रंगबिरंगे फूलों की घटाओं के समान उड़ते हुए और वीणा, वंशी, मुरज, जलतरंग आदि का वृन्दावन (आर्केस्ट्रा) बजाते हुए पक्षी कितने सुन्दर जान पड़ते हैं—मनुष्य ने बन्दूक उठाई, निशाना साधा और कई गाते-उड़ते पक्षी धरती पर ढेले के समान आ गिरे। किसी की लाल-पीली चोंचवाली गर्दन टूट गई है, किसी के पीले सुन्दर पंजे टेढ़े हो गए हैं और किसी के इन्द्र-धनुषी पङ्ख बिखर गए हैं! क्षत-विक्षत रक्तस्नात उन मृत-अर्धमृत लघु गातों में न अब संगीत है; न सौन्दर्य, परन्तु तब भी मारने वाला अपनी सफलता पर नाच उठता है।

पक्षी जगत में ही नहीं, पशु जगत में भी मनुष्य ध्वंसलीला ऐसी ही निष्ठुर है। पशु जगत में हिरन जैसा निरीह और सुन्दर दूसरा पशु नहीं है—उसकी आँखें तो मानो करुणा की चित्रलिपि हैं। परन्तु इसका भी गतिमय, सजीव

सौन्दर्य मनुष्य का मनोरंजन करने में असमर्थ है। मानव को, जो जीवन का श्रेष्ठतम रूप है, जीवन के अन्य रूपों के प्रति इतनी वितृष्णा और विरक्ति और मृत्यु के प्रति इतना मोह और आकर्षण क्यों ?

बेचारी सोना भी मनुष्य की इसी निष्ठुर मनोरंजनप्रियता के कारण अपने अरण्य-परिवेश और स्वजाति से दूर मानव-समाज में आ पड़ी थी।

प्रशान्त वनस्थली में जब अलस भाव में रोमन्थन करता हुआ मृगसमूह शिकारियों की आहट से चौंककर भागा, तब सोना की माँ सद्यःप्रसूता होने के कारण भागने में असमर्थ रही। सद्यःजात मृगशिशु तो भाग नहीं सकता था, अतः मृगी माँ ने अपनी सन्तान को अपने शरीर की ओट में सुरक्षित रखने के प्रयास में प्राण दिए।

पता नहीं, दया के कारण या कौतुकप्रियता के कारण शिकारी मृत हिरनी के साथ उसके रक्त से सने और ठंडे स्तनों से चिपटे हुए शावक को जीवित उठा लाये। उनमें से किसी के परिवार की सदय गृहिणी और बच्चों ने उसे पानी मिला दूध पिला-पिलाकर दो-चार दिन जीवित रखा।

सुस्मिता वसु के समान ही किसी बालिका को मेरा स्मरण हो आया और वह अनाथ शावक को मुमूर्षु अवस्था में मेरे पास ले आयी। शावक अवांछित तो था ही, उसके बचने की आशा भी धूमिल थी, परन्तु मैंने उसे स्वीकार कर लिया। स्निग्ध सुनहले रंग के कारण सब उसे सोना कहने लगे। दूध पिलाने की शीशी, ग्लूकोज, बकरी का दूध आदि सब कुछ एकत्र करके, उसे पालने का कठिन अनुष्ठान आरम्भ हुआ।

उसका मुख इतना छोटा-सा था कि उसमें शीशी का निपल समाता ही नहीं था—उस पर उसे पीना भी नहीं आता था। फिर धीरे-धीरे उसे पीना ही नहीं, दूध की बोतल पहचानना भी आ गया। आँगन में कूदते-फाँदते हुए भी भक्तिन को बोतल साफ करते देखकर वह दौड़ आती और अपनी तरल चकित आँखों से उसे ऐसे देखने लगती, मानो वह कोई सजीव मित्र हो।

उसने रात में मेरे पलंग के पाए से सटकर बैठना सीख लिया था, पर वहाँ गंदा न करने की आदत कुछ दिनों के अभ्यास से पड़ सकी। अँधेरा होते ही वह मेरे कमरे के पलंग के पास आ बैठती और फिर सवेरा होने पर ही बाहर निकलती।

उसका दिन भर का कार्यकलाप भी एक प्रकार से निश्चित था। विद्यालय और छात्रावास की विद्यार्थिनियों के निकट पहले वह कौतुक का कारण रही, परन्तु कुछ दिन बीत जाने पर वह उनकी ऐसी प्रिय साथिन बन गई, जिसके बिना उनका किसी काम में मन ही नहीं लगता था।

दूध पीकर और भीगे चने खाकर सोना कुछ देर कम्पाउण्ड में चारों पैरों को सन्तुलित कर चौकड़ी भरती। फिर वह छात्रावास पहुँचती और प्रत्येक कमरे का भीतर, बाहर निरीक्षण करती। सवेरे छात्रावास में विचित्र सी क्रियाशीलता रहती है—कोई छात्रा हाथ-मुँह धोती है, कोई बालों में कंघी करती है, कोई साड़ी बदलती है, कोई अपनी मेज की सफाई करती है, कोई स्नान करके भीगे कपड़े सूखने के लिए फैलाती है और कोई पूजा करती है। सोना के पहुँच जाने पर इस विविध कर्म-संकुलता में एक नया काम और जुड़ जाता था। कोई छात्रा उसके माथे पर कुमकुम का बड़ा-सा टीका लगा देती, कोई गले में रिबन बाँध देती और कोई पूजा के बताशे खिला देती।

मेस में उसके पहुँचते ही छात्राएँ ही नहीं, नौकर-चाकर तक दौड़ आते और सभी उसे कुछ न कुछ खिलाने को उतावले रहते, परन्तु उसे बिस्कुट को छोड़कर कम खाद्य-पदार्थ पसन्द थे।

छात्रावास का जागरण और जलपान अध्याय समाप्त होने पर वह घास के मैदान में कभी दूब चरती और कभी उस पर लोटती रहती। मेरे भोजन का समय वह किस प्रकार जान लेती थी, यह समझने का उपाय नहीं है, परन्तु वह ठीक उसी समय भीतर आ जाती और तब तक मुझसे सटी खड़ी रहती जब तक मेरा खाना समाप्त न हो जाता। कुछ चावल, रोटी आदि उसको भी प्राप्य रहता था, परन्तु उसे कच्ची सब्जी ही अधिक भाती थी।

घण्टी बजते ही वह फिर प्रार्थना के मैदान में पहुँच जाती और उसके समाप्त होने पर छात्रावास के समान-ही कक्षाओं के भीतर-बाहर चक्कर लगाना आरम्भ करती।

उसे छोटे बच्चे अधिक प्रिय थे, क्योंकि उनके साथ खेलने का अधिक अवकाश रहता था। वे पंक्तिबद्ध खड़े होकर सोना-सोना पुकारते और वह उनके ऊपर से छलाँग लगाकर एक ओर से दूसरी ओर कूदती रहती! यह सरकस जैसा खेल कभी घन्टों चलता क्योंकि खेल के घन्टों में बच्चों की एक कक्षा के उपरान्त दूसरी आती रहती।

मेरे प्रति स्नेह-प्रदर्शन के उसके कई प्रकार थे। बाहर खड़े होने पर वह सामने या पीछे से छलाँग लगाती और मेरे सिर के ऊपर से दूसरी ओर निकल जाती। प्राय: देखने वालों को भय होता था कि उसके पैरों से मेरे सिर पर चोट न लग जावे, परन्तु वह पैरों को इस प्रकार सिकोड़े रहती थी और मेरे सिर को इतनी ऊँचाई से लाँघती थी कि चोट लगने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती थी।

भीतर आने पर वह मेरे पैरों से अपना शरीर रगड़ने लगती। मेरे बैठे रहने पर वह साड़ी का छोर मुँह में भर लेती और कभी पीछे चुपचाप खड़े होकर चोटी ही चबा डालती। डाँटने पर वह अपनी बड़ी गोल और चकित आँखों में ऐसी अनिर्वचनीय जिज्ञासा भरकर एकटक देखने लगती कि हँसी आ जाती।

कविगुरु कालिदास ने अपने नाटक में मृगी-मृग-शावक आदि को इतना महत्त्व क्यों दिया है, यह हिरन पालने के उपरान्त ही ज्ञात होता है।

पालने पर वह पशु न रहकर ऐसा स्नेही संगी बन जाता है, जो मनुष्य के एकान्त शून्य को तो भर देता है, परन्तु खीझ उत्पन्न करने वाली जिज्ञासा से उसे बोझिल नहीं बनाता। यदि मनुष्य दूसरे मनुष्य से केवल नेत्रों से बात कर सकता, तो बहुत से विवाद समाप्त हो जाते, परन्तु प्रकृति को यह अभीष्ट नहीं रहा होगा।

सम्भवत: इसी से मनुष्य वाणी द्वारा परस्पर किए गए आघातों और सार्थक शब्दभार से पीड़ित अपने प्राणों पर इन भाषाहीन जीवों की स्नेह तरल दृष्टि का चन्दन लेप लगाकर स्वस्थ और आश्वस्त होना चाहता है।

सरस्वती वाणी से ध्वनित-प्रतिध्वनित कण्व के आश्रम में ऋषियों, ऋषि-पत्नियों, ऋषि-कुमार-कुमारिकाओं के साथ मूक अज्ञान मृगों की स्थिति भी अनिवार्य है। मन्त्रपूत कुटियों के द्वार को नीवारकण चाहने वाले मृग रूँध लेते हैं। विदा लेती हुई शकुन्तला का गुरुजनों के उपदेश-आशीर्वाद से बोझिल अंचल, उसका अपत्यवत् पालित मृगछौना थाम लेता है!

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।

श्यामाकमुष्टि परिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् (चतुर्थांक)

शकुन्तला के प्रश्न करने पर कि कौन मेरा आंचल खींच रहा है, कण्व कहते हैं—

कुश के कांटे से जिसका मुख छिद जाने पर तू उसे अच्छा करने के लिए हिंगोट का तेल लगाती थी, जिसे तूने मुट्ठी भर-भर साँवा के दानों से पाला है, जो तेरे निकट पुत्रवत् है, वही तेरा मृग तुझे रोक रहा है।

साहित्य ही नहीं, लोकगीतों की मर्मस्पर्शिता में भी मृगों का विशेष योगदान रहता है।

पशु मनुष्य के निश्छल स्नेह से परिचित रहते हैं, उसकी ऊँची-नीची सामाजिक स्थितियों से नहीं, यह सत्य मुझे सोना से अनायास प्राप्त हो गया।

अनेक विद्यार्थिनियों की भारी भरकम गुरुजी से सोना को क्या लेना-देना था। वह तो उस दृष्टि को पहचानती थी, जिसमें उसके लिए स्नेह छलकता था और उन हाथों को जानती थी, जिन्होंने यत्नपूर्वक दूध की बोतल उसके मुख से लगाई थी।

यदि सोना को अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए मेरे सिर के ऊपर से कूदना आवश्यक लगेगा तो वह कूदेगी ही। मेरी किसी अन्य परिस्थिति से प्रभावित होना, उसके लिए सम्भव ही नहीं था।

कुत्ता स्वामी और सेवक का अन्तर जानता है और स्वामी की स्नेह या क्रोध की हर मुद्रा से परिचित रहता है। स्नेह से बुलाने पर गद्‌गद् होकर निकट आ जाता है और क्रोध करते ही सभीत और दयनीय बनकर दुबक जाता है।

पर हिरन यह अन्तर नहीं जानता, अतः उसका अपने पालने वाले से डरना कठिन है। यदि उस पर क्रोध किया जावे तो वह अपनी चकित आँखों में और अधिक विस्मय भरकर पालने वाले की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर खड़ा रहेगा। मानो पूछता हो, क्या यह उचित है? वह केवल स्नेह पहचानता है, जिसकी स्वीकृति जताने के लिए उसकी विशेष चेष्टाएँ हैं।

मेरी बिल्ली गोधूली, कुत्ते हेमन्त-वसन्त, कुत्ती फ्लोरा सब पहले इस नए अतिथि को देखकर रुष्ट हुए, परन्तु सोना ने थोड़े ही दिनों में सबसे सख्य स्थापित कर लिया। फिर तो वह घास पर लेट जाती और कुत्ते-बिल्ली उस पर उछलते-कूदते रहते। कोई उसके कान खींचता, कोई पैर और वे इस खेल में तन्मय हो जाते, तब वह अचानक चौकड़ी भरकर भागती और वे गिरते-पड़ते उसके पीछे दौड़ लगाते।

वर्ष भर का समय बीत जाने पर सोना हरिण-शावक से हरिणी में परिवर्तित होने लगी। उसके शरीर के पीताभ रोयें ताम्रवर्णी झलक देने लगे। टाँगें अधिक सुडौल और खुरों के कालेपन में चमक आ गयी। ग्रीवा अधिक बंकिम और लचीली हो गई। पीठ में भराव वाला उतार-चढ़ाव और स्निग्धता दिखाई देने लगी। परन्तु सबसे अधिक विशेषता तो उसकी आँखों और दृष्टि में मिलती थी। आँखों के चारों ओर खिची कज्जल कोर में नीले गोलक और दृष्टि ऐसी लगती थी, मानो नीलम के बल्बों में उजली विद्युत् का स्फुरण हो।

सम्भवत: अब उसमें वन तथा स्वजाति का स्मृति-संस्कार जागने लगा था! प्राय: सूने मैदान में वह गर्दन ऊँची करके किसी की आहट की प्रतीक्षा में खड़ी रहती। वासन्ती हवा बहने पर यह मूक प्रतीक्षा और अधिक मार्मिक हो उठती। शैशव के साथियों और उनकी उछल-कूद से अब उसका पहले जैसा मनोरंजन नहीं होता था, अत: उसकी प्रतीक्षा के क्षण अधिक होते जाते थे।

इसी बीच फ्लोरा ने भक्तिन की कुछ अंधेरी कोठरी के एकान्त कोने में चार बच्चों को जन्म दिया और वह खेल के संगियों को भूलकर अपनी नवीन सृष्टि के संरक्षण में व्यस्त हो गई। एक-दो दिन सोना अपनी सखी को खोजती रही, फिर उसे इतने लघु जीवों से घिरा देख कर उसकी स्वाभाविक चकित दृष्टि गम्भीर विस्मय से भर गई।

एक दिन देखा, फ्लोरा कहीं बाहर घूमने गई है और सोना भक्तिन की कोठरी में निश्चिन्त लेटी है। पिल्ले आँख बन्द रहने के कारण चीं-चीं करते हुए सोना के उदर में दूध खोज रहे थे तब से सोना के नित्य के कार्यक्रम में पिल्लों के बीच में लेट जाना भी सम्मिलित हो गया। आश्चर्य की बात थी कि फ्लोरा हेमन्त, वसन्त या गोधूली को तो अपने बच्चों के पास फटकने भी नहीं देती थी, परन्तु सोना के संरक्षण में उन्हें छोड़कर आश्वस्त भाव से इधर-उधर घूमने चली जाती थी।

सम्भवतः वह सोना की स्नेही और अहिंसक प्रकृति से परिचित हो गई थी। पिल्लों के बड़े होने पर और उनकी आँखें खुल जाने पर सोना ने उन्हें भी अपने पीछे घूमने वाली सेना में सम्मिलित कर लिया और मानो इस वृद्धि के उपलक्ष में आनन्दोत्सव मनाने के लिए अधिक देर तक मेरे सिर के आरपार चौकड़ी भरती रही पर कुछ दिनों के उपरान्त जब यह आनन्दोत्सव पुराना पड़ गया, तब उसकी शब्दहीन, संज्ञाहीन प्रतीक्षा की स्तब्ध घड़ियाँ फिर लौट आईं।

उसी वर्ष गर्मियों में मेरा बद्रीनाथ-यात्रा का कार्यक्रम बना। प्रायः मैं अपने पालतू जीवों के कारण प्रवास में कम रहती हूँ। उनकी देख-रेख के लिए सेवक रहने पर भी मैं उन्हें छोड़कर आश्वस्त नहीं हो पाती। भक्तिन, अनुरूप (नौकर) आदि तो साथ जाने वाले थे ही, पालतू जीवों में से मैंने फ्लोरा को साथ ले जाने का निश्चय किया, क्योंकि वह मेरे बिना रह नहीं सकती थी।

छात्रावास बन्द था, अतः सोना के नित्य नैमित्तिक कार्यकलाप भी बन्द हो गए थे। मेरी उपस्थिति का भी अभाव था, अतः उसके आनन्दोल्लास के लिए भी अवकाश कम था।

हेमन्त-वसन्त मेरी यात्रा और तज्जनित अनुपस्थिति से परिचित हो चुके थे। होल्डाल बिछाकर उसमें बिस्तर रखते ही वे दौड़कर उस पर लेट जाते और भौंकने तथा क्रन्दन की ध्वनियों के सम्मिलित स्वर में मुझे मानो उपालम्भ देने लगते। यदि उन्हें बाँध न रखा जाता तो वे कार में घुसकर बैठ जाते या उसके पीछे-पीछे दौड़कर स्टेशन तक जा पहुँचते। परन्तु जब मैं चली जाती, तब वह उदास भाव से मेरे लौटने की प्रतीक्षा करने लगते।

सोना की सहज चेतना में न मेरी यात्रा जैसी स्थिति का बोध था, न प्रत्यावर्तन का; इसी से उसकी निराश जिज्ञासा और विस्मय का अनुमान मेरे लिए सहज था।

पैदल जाने-आने के निश्चय के कारण बद्रीनाथ की यात्रा में ग्रीष्मावकाश समाप्त हो गया। २ जुलाई को लौटकर जब मैं बँगले के द्वार पर आ खड़ी हुई, तब बिछुड़े हुए पालतू जीवों में कोलाहल होने लगा।

गोधूली कूदकर कन्धे पर आ बैठी। हेमन्त-वसन्त मेरे चारों ओर परिक्रमा करके हर्ष की ध्वनियों से मेरा स्वागत करने लगे। पर मेरी दृष्टि सोना को खोजने लगी। क्यों वह अपना उल्लास व्यक्त करने के लिए मेरे सिर के ऊपर से छलाँग नहीं लगाती? सोना कहाँ है, पूछने पर माली आँखें पोंछने लगा और

चपरासी, चौकीदार एक-दूसरे का मुख देखने लगे। वे लोग आने के साथ ही मुझे दु:खद समाचार नहीं देना चाहते थे, परन्तु माली की भावुकता ने बिना बोले ही उसे दे डाला।

ज्ञात हुआ कि छात्रावास के सन्नाटे और फ्लोरा के तथा मेरे अभाव के कारण सोना इतनी अस्थिर हो गई थी कि इधर-उधर कुछ खोजती-सी वह प्राय: कम्पाउण्ड से बाहर निकल जाती थी। इतनी बड़ी हिरनी को पालने वाले तो कम थे, परन्तु उसे खाद्य और स्वाद प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों का बाहुल्य था। इसी आशंका से माली ने उसे मैदान में एक लम्बी रस्सी से बाँधना आरम्भ कर दिया था।

एक दिन न जाने किस स्तब्धता की स्थिति में बन्धन की सीमा भूलकर वह बहुत ऊँचाई तक उछली और रस्सी के कारण मुख के बल धरती पर आ गिरी। वही उसकी अन्तिम साँस और अन्तिम उछाल थी।

सब उस सुनहले रेशम की गठरी से शरीर को गंगा में प्रवाहित कर आये और इस प्रकार किसी निर्जन वन में जन्मी और जन-संकुलता में पली सोना की करुण कथा का अन्त हुआ।

सब सुनकर मैंने निश्चय किया था कि हिरन नहीं पालूँगी, पर संयोग से फिर हिरन ही पालना पड़ रहा है।

दस

आधुनिकता और साहित्य

डॉ० नगेन्द्र

'आधुनिक' शब्द का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग होता है। एक अर्थ केवल समय-सापेक्ष है जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशेष कालावधि का द्योतक है। भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ एक प्रकार से १८वीं शती के उत्तरार्ध से माना जाता है जबकि देश के दक्षिण-पश्चिम और पूर्वी प्रदेशों में ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया था—यद्यपि आधुनिक भारत की रूपरेखा वस्तुतः १८५७ ई० के बाद स्फुटित हुई। यूरोप के इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ मूलतः १५ वीं शती से पुनर्जागरण के साथ-साथ हो गया था, परन्तु उसका भी रूप वास्तव में १७ वीं शती में विज्ञान के विकास के साथ ही स्पष्ट हुआ।

इस कालवाचक अर्थ का एक दूसरा रूप भी है। जैसाकि शब्दार्थ से स्पष्ट है, आधुनिकता का सम्बन्ध वर्तमान से है और चूंकि वर्तमान की धारणा समय-सापेक्ष है, अतः आधुनिकता का यह रूप प्रत्येक युग में बदलता रहता है। सामान्य शब्दावली में 'आधुनिक' यहाँ अतीत से 'भिन्न' या 'नये' का वाचक होता है। इस अर्थ में 'आधुनिक' हमारे अपने वर्तमान युग से सम्बद्ध नहीं रह जाता; प्राचीन इतिहास-युगों के भी अपने-अपने आधुनिक चरण रहे होंगे जो आज प्राचीन बन गए हैं—बौद्ध काल आज प्राचीन है, परन्तु अपने युग में वह निश्चय ही आधुनिक था। स्वीकृत अर्थ में इतिहास का जो आधुनिक युग है, वह भी आधुनिकता के अनेक चरणों में होकर गुजर चुका है। अठारहवीं

शती की आधुनिकता तो पुरानी हो गई है, उन्नीसवीं शती का उल्लेख प्राय: आधुनिक के विपर्याय रूप में किया जाता है, और बीसवीं शती के आरम्भ के आन्दोलन भी आज प्रतिक्रियावादी प्रतीत होते हैं।

दूसरा अर्थ विचारपरक है जिसके अनुसार आधुनिक एक विशिष्ट दृष्टिकोण—मध्ययुगीन विचार-पद्धति से भिन्न, एक नए जीवन-दर्शन का वाचक है, यद्यपि पहला अर्थात् ऐतिहासिक अर्थ भी उसमें गर्भित है। वस्तुत: आधुनिकता की धारणा का मूल आधार ऐतिहासिक चेतना ही है। आधुनिक दृष्टि मध्ययुगीन और प्राचीन की अपेक्षा इसलिए भिन्न है कि इसमे इतिहास-बोध की प्रधानता है; अर्थात् यह अपने पर्य्यावरण के प्रति निश्चय ही सजग है। मध्ययुग और पुराकाल में भी जीवन-दृष्टि अनिवार्यत: ही अपने परिवेश से प्रभावित थी, परन्तु वह उसके प्रति कदाचित् इतनी प्रबुद्ध नहीं थी : इतिहास की चेतना का विकास उस समय नहीं हुआ था। विचारपरक या दृष्टिपरक अर्थ में आधुनिकता एक मिश्र धारणा है जिसका निर्माण अनेक तत्वों से हुआ है। इनमें प्रथम और आधारभूत तत्व है अपने देशकाल के साथ जीवन एवं सचेतन सम्बन्ध। पूर्ववर्ती युगों का जीवन प्रवृत्ति का जीवन था जिसमें देश-काल जीवन के अन्तर्गत रमा हुआ था पर मनुष्य को उसकी पृथक् चेतना नहीं थी—प्रवृत्ति के प्राधान्य के कारण उसकी कदाचित् आवश्यकता नहीं होती थी, जैसे हमारे व्यक्तित्व में प्रकृति के तत्व रमे रहते हैं, पर हम उनके अस्तित्व के प्रति सजग नहीं हैं। 'आधुनिक' मनुष्य का जन्म उस समय हुआ जब वह अपने देश-काल के प्रति, अपने युग और इतिहास के प्रति प्रबुद्ध हुआ। इस प्रबुद्धता के परिणामस्वरूप आधुनिक जीवन दृष्टि में सामाजिक चेतना और आरम्भिक चरण में राष्ट्रीय चेतना का भी स्वत: ही समावेश हो गया था। कल्पना और आदर्श का आकर्षण कम हो गया था—जीवन-दृष्टि व्यावहारिक एवं यथार्थपरक हो रही थी। भावुकता के स्थान पर विवेक का नियंत्रण बढ़ चला था और विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण सामान्य दृष्टिकोण क्रमश: बौद्धिक (वैज्ञानिक) होता जा रहा था। इस प्रकार विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिकता का दूसरा प्रमुख तत्व है। आधुनिक दृष्टि में नवीन के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है; वस्तुत: काफी हद तक आधुनिक और नवीन के पर्याय-सम्बन्ध भी हैं। जैसी स्थिति है वही ठीक है या वैसी ही बनी रहे : एतादृशत्व की इस भावना के विरोध में आधुनिक चेतना का विकास होता है।

परम्परा का विरोध इसमें नहीं है, परन्तु परम्परा को स्थिर तथ्य मानकर यह नहीं चलती—आधुनिक दृष्टि परम्परा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है, जो निरन्तर अग्रसर रहता है और जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है : जीर्ण पुरातन का त्याग, संशोधन, पुनर्मूल्यांकन की पद्धति से नव-नव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैचित्र्य और नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अंग है। अत: रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और नवजीवन के विकास के लिए प्रयोग के प्रति आग्रह यहाँ अनिवार्य है।

यह 'आधुनिक' का पारिभाषिक अर्थ है जो समय से परिबद्ध नहीं है। इस अर्थ में 'आधुनिक' एक विशिष्ट धारणा का—उपर्युक्त विशेषताओं की संहति का वाचक है। उस पर समय के क्रम का नियंत्रण नहीं है। उदाहरण के लिए मध्ययुग के रोमी दार्शनिकों की अपेक्षा अरस्तू अधिक आधुनिक है; शंकराचार्य की अपेक्षा बुद्ध का जीवन-दर्शन अधिक आधुनिक है; हिन्दी में सूरदास की अपेक्षा कबीर अधिक आधुनिक है। यह अर्थ वर्तमान से असम्बद्ध नहीं है, परन्तु वर्तमान से एक दम बँधा हुआ भी यह नहीं है। वर्तमान में जीवित प्रत्येक विचारक या कलाकार आधुनिक नहीं होता—आधुनिक युग के रत्नाकर की दृष्टि आधुनिक नहीं थी, आज के उपन्यासकार गुरुदत्त की विचारधारा और कला आधुनिक नहीं है। इस प्रकार प्रत्ययात्मक अर्थ में 'आधुनिक' समसामयिक से भिन्न एवं विशिष्ट बन जाता है।

किन्तु आज के सीमित संदर्भ में 'आधुनिक' का एक संकुचित अर्थ 'समसामयिक' भी उभरकर सामने आया है। इस संदर्भ में आधुनिकता का अर्थ है वर्तमान का युगबोध; यहाँ दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित रहती है। आज की स्थिति का यथार्थ परिज्ञान ही आधुनिकता का आधार है। आज के जीवन का सबसे अधिक प्रभावी सत्य है—दूसरे महायुद्ध की विभीषिकाओं के संदर्भ में विज्ञान का विकास जो अभूतपूर्व वेग से हो रहा है। इसके कुछ परिणाम स्पष्ट हैं : प्रादेशिक सीमाएँ प्राय: टूट गई हैं—देश और काल की बाधाओं का काठिन्य गलने लगा है। शक्ति का संघर्ष अत्यन्त भयंकर हो गया है—दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के प्रतिनिधि राष्ट्र आज इतनी अधिक विनाशकारी सामग्री से सम्पन्न हैं कि सन्तुलन भंग हो जाने से किसी भी क्षण मानव-सृष्टि का पूर्ण संहार हो सकता है। उधर अन्तरिक्ष-विजय की बढ़ती हुई संभावनाओं के कारण जीवन की परिधि का अनन्त विस्तार हो रहा है और

मानव प्राणी के स्वयंसिद्ध गौरव के प्रति सन्देह बढ़ता जा रहा है। जैविक धरातल पर जीव विज्ञान की उद्‌भावनाओं के फलस्वरूप और चेतना या अन्तश्चेतना के क्षेत्र में मनोविश्लेषणशास्त्र के शोध परिणामों के प्रभाव से अन्तर्जीवन अर्थात् अनुभूत्यात्मक जीवन का स्वरूप ही बदल गया है : चेतना प्रवाह के नैरन्तर्य की सिद्धि के साथ-साथ भावनात्मक और वैचारिक प्रत्यय बिखरने लगे हैं। इसका एक परिणाम हुआ है तर्कशास्त्र का खण्डन और दूसरा परिणाम है रागात्मक अनुभवों की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध। आदर्श टूटने लगे हैं और मूल्यों के ह्रास की धारणा बल पकड़ने लगी है। यह विश्वास उभरने लगा है कि जीवन के अखण्ड प्रवाह में अतीत तो सर्वथा विलीन हो चुका है और अनागत अभी अदृष्ट है; सत्य यदि है तो वह है वर्तमान क्षण का अनुभव। मनुष्य क्षण में ही जीता है क्योंकि उसका अनुभव क्षण में ही निबद्ध है। अनुभव ही जीवन का एकमात्र सत्य है : और अनुभव का न भूत होता है न भविष्यत्—उसका तो केवल वर्तमान होता है। इस प्रकार क्षणवाद की नये रूप में स्थापना हो रही है। आस्तिक और धार्मिक किरके गार्द ने आस्था के माध्यम से और नास्तिक सार्त्र ने अनास्था के माध्यम से क्षण-केन्द्रित जीवन के आधार पर अपने-अपने ढंग से अस्तित्ववाद की स्थापना की है। मानव-अस्तित्व ही एकमात्र सत्य है लेकिन अपने सहज रूप में यह अस्तित्व एक 'शाश्वत संकट' है—अस्तित्व और उसके रहस्य का अनुभव 'चिरंतन भार' के रूप में ही मनुष्य को होता है। अतः आज का मनुष्य अनवरत चिन्ता-ग्रस्त है और अनवरत चिन्ता की यह मनःस्थिति आधुनिकता का एक अत्यन्त स्पष्ट लक्षण है। जीवन की चेतना आज स्पष्टतः ही अत्यन्त जटिल बन गयी है—परम्परागत जीवन-दर्शन में स्वीकृत राग एवं विचार के पृथक्-पृथक् सूत्रों का अस्तित्व खण्डित और विवेक तथा इच्छा के अनुसार उनका ताना-बाना बुनने का वांछित सुयोग नष्ट हो जाने के कारण जीवन के रंग उड़ गए हैं, और रस सूख गये हैं। शेष रह गया है जटिल और शुष्क अनुभूतियों का जाल। इसलिए आज के जीवन की चेतना एकदम उलझी हुई, रूखी और कठिन है। जीवन का सौन्दर्य, यदि हम इस रूढ़ शब्द का प्रयोग करना ही चाहें, इस रूखेपन, जटिलता और काठिन्य या उसके बोध में निहित है। सामाजिक धरातल पर इसका प्रभाव यह हुआ है कि सम्बन्ध टूटने लगे हैं, मनुष्य अपने को सन्दर्भ से कटा हुआ महसूस करने लगा है और समाज में उसकी अपनी

सार्थकता का विश्वास प्रायः नष्ट हो चुका है। उसे लगता है जैसे वह एकान्त निर्वासित प्राणी है—समाज के साथ उसके संपर्क-सूत्र छिन्न-भिन्न हो गए हैं, और सम्प्रेषण के साधन प्रायः रीत चुके हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन के फलस्वरूप आधुनिक युग के प्रतिनिधि जिस जीवन-दर्शन का विकास हुआ है उसको अन्तर्मुख चिन्ताओं ने 'अस्तित्व-वाद' और बहिर्मुख विचारकों ने 'निराशावादी वैज्ञानिक मानववाद' कहा है। सामान्य रूप में इस जीवन-दर्शन को ही आधुनिकता के सूत्रबद्ध लक्षण के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।

पश्चिम के नए विचारक और उनसे प्रभावित हमारे यहाँ के भी नव-चिन्तक आधुनिकता की इसी प्रकार व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार आज आधुनिकता का यही रूप है—अथवा यों कहें कि आज के संदर्भ में आधुनिकता का सही अर्थ यही या प्रायः इसी प्रकार का है।

प्रस्तुत प्रसंग में दो-तीन प्रश्न अनायास ही हमारे मन में उठते हैं। क्या आधुनिकता का यही एकमात्र रूप है—जिसमें सर्वत्र अँधेरा और अवसाद है? क्या आज के सभी प्रबुद्ध विचारक आधुनिक युग-बोध की इसी प्रकार की निराशामयी व्याख्या करते हैं? यदि यही परिभाषा ठीक है तो आधुनिकता कहाँ तक काम्य है? क्या आधुनिकता को अपने-आप में 'मूल्य' माना जा सकता है। आदि-आदि।

आधुनिकता के सही अर्थ-बोध के लिए इन पर क्रमशः विचार कर लेना उपयोगी होगा।

क्या आधुनिकता का यही एकमात्र रूप है? इसका उत्तर देने से पूर्व एक और प्रश्न सामने आता है और वह यह कि आधुनिकता के प्रेरक एवं निर्णायक तत्व क्या हैं? इस दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि आधुनिक या किसी भी युग के स्वरूप का निर्माण वस्तुतः उस युग की ऐसी घटनाओं के द्वारा होता है जिनका प्रभाव अधिकाधिक गहरा और व्यापक होता है। वर्तमान युग की प्रमुख प्रेरक घटनाएँ हैं: बाह्य जीवन में विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियाँ—अणु शक्ति का अनुसन्धान, अन्तरिक्ष-विजय, आदि; अन्तर्जीवन में अचेतन और अवचेतन मन का उद्घाटन। इन घटनाओं ने वर्तमान जीवन और उसकी चेतना को प्रभावित किया है; इसमें सन्देह नहीं। बुद्धजीवी वर्ग जिसका एक

प्रमुख अंग है कलाकार, अपनी सूक्ष्म संवेदनाओं के द्वारा इनके सूक्ष्म प्रभावों को सीधा ग्रहण कर रहा है और जनसाधारण इनके स्थूल प्रभावों को प्रायः परोक्ष रूप में ग्रहण कर रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इनका प्रभाव केवल अवसादकारी ही है या हो सकता है ? इसमें सन्देह नहीं कि अणु शक्ति आदि के उपयोग से सत्ता-संघर्ष में जो एक नया आयाम उपस्थित हो गया है उसमें सार्वभौम प्रलय की सम्भावना भी निहित है और समय-समय पर आने वाले राजनीतिक भूकम्प अतिशय संवेदनशील व्यक्तियों के मन में यह भय भी उत्पन्न कर सकते हैं कि खतरा शायद काफी नज़दीक ही है। परन्तु यह तो इस घटना का एक पक्ष है, और विकृत पक्ष है : मानव के सुख सौभाग्य तथा जीवन की अधिकाधिक सार्थकता के लिए भी तो इसका उपयोग हो सकता है। वास्तव में यह कल्पना असंगत है कि आज के वैज्ञानिकों की दिव्य मेधाएँ केवल सार्वभौम विनाश के साधनों का आविष्कार कर रही हैं ? खतरे की आशंका ग़लत नहीं है, किन्तु आशंका का प्रयोजन सावधान करना है, हताश और कर्तव्यविमूढ़ करना नहीं। इसी खतरे से सावधान होकर आज प्रायः सभी समर्थ लोकनायक और अनेक प्रबुद्ध चिन्तक मानव-जीवन के शुभ्र पक्ष की कल्पना भी तो कर सकते हैं और कर रहे हैं। पर नया विचारक यह कहता है कि आधुनिक युग-बोध यह नहीं है—यह तो पुरातन दृष्टिकोण है जो वस्तु को यथार्थ रूप में न देखकर उसके अभीष्ट रूप की कल्पना करने में ही विश्वास करता है। हमारे विचार से यह मताग्रह है, एक पूर्वग्रह का आरोप है। आज का यथार्थ केवल अगति और विघटन है, यह पूर्वग्रह है—अगति और विघटन भी यथार्थ हो सकता है, आज के अनेक सूक्ष्म चेता कलाकार पूर्ण संवेदना के साथ इसका अनुभव कर रहे हैं; परन्तु यह समग्र यथार्थ नहीं खण्ड यथार्थ मात्र है। विज्ञान का नियम संघटन है, विघटन नहीं : अणु के विघटन का उद्देश्य भी जीवन का संघटन ही है। अध्यात्म के क्षेत्र में शक्ति की जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कल्पना की गई थी, आज के वैज्ञानिक परीक्षण उसी की भौतिक परिणतियाँ हैं। इसी प्रकार अन्तर्जीवन में अचेतन मन के उद्‌घाटन के फल-स्वरूप निरन्तर चेतना-प्रवाह की सिद्ध से हमारे नैतिक और रागात्मक मूल्यों में निश्चय ही संशोधन हुआ है : जैविक प्रवृत्तियों का महत्त्व बढ़ा और विवेक एवं प्रज्ञा का गौरव क्षीण हुआ है। परन्तु इसके कारण चेतना को नवीन अन्तर्प्रकाश नहीं मिला—केवल अवसाद और अन्धकार ही बढ़ा है, यह कल्पना

भी एकांगी है। फ्रॉयड ने आनन्द-सिद्धान्ती को ह समस्त जैविक जीवन का आधार माना है और उधर युंग का सिद्धान्त तो वर्तमान युग में जीवनावस्था का सबसे प्रामाणिक आख्यान है।

ऐसी स्थिति में आधुनिकता को एक व्यापी निराशा में बाँध देना युग-सत्य नहीं हो सकता—वह सत्य की विकृति या अधिक से अधिक सत्य का आभास मात्र हो सकता है। और यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि आज आधुनिकता का लक्षण यही है, तो इस प्रकार की आधुनिकता क्या काम्य है? यह ठीक है कि आज के कुछ विशिष्ट संवेदनशील मनीषियों को प्रायः इसी रूप में यथार्थ-बोध हुआ है और उनकी अपनी संवेदना और तीव्रता के कारण यह चेतना संक्रामक रूप से नई पीढ़ी के अनेक समानधर्मा कलाकारों में व्याप्त हो गई है। इस प्रकार के यथार्थ-बोध की सच्ची अनुभूति और सफल अभिव्यक्ति कला हो सकती है, इससे भी हम इन्कार नहीं करते; परन्तु कला का आधार यहाँ अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्ति की सफलता ही है—तथाकथित 'यथार्थ-बोध' या 'आधुनिकता' कला का आधार नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि युग-बोध को आधुनिकता का लक्षण मानना तो उचित है; किन्तु निराशा और अवसाद को ही आज के युग-बोध का लक्षण मान लेना उचित नहीं है : सदा की तरह आज भी निराशा के अंधकार को चीरकर प्रकट होने वाला आशा का आलोक ही जीवन का लक्षण है। यथार्थ-बोध की ऐसी परिभाषा जो जीवन का निषेध करे, अयथार्थ ही मानी जाएगी। इसके अतिरिक्त यथार्थ-बोध को सचेतन प्रक्रिया न मानकर एक सहज अप्रत्यक्ष प्रक्रिया मानना ही संगत है—पहली स्थिति में बोध प्रधान हो जाता है और अनुभूति गौण। विचार के—समाजशास्त्र आदि के—क्षेत्र में तो बोध (और विश्लेषण) की प्रधानता ठीक है, परन्तु जीने की प्रक्रिया में, और उससे भी अधिक सर्जना की प्रक्रिया में, बोध की प्रमुखता बाधक भी हो सकती है। अतः आधुनिकता को मूल्य के रूप में स्वीकार करना समीचीन नहीं होगा—आधुनिकता विधि मात्र है; विधि-रूप में उसका प्रभाव अक्षुण्ण है, पर विधि से अधिक उसका महत्त्व नहीं है।

साहित्य के सन्दर्भ में भी आधुनिकता का वैसा ही और उतना ही उपयोग एवं महत्त्व है जैसा जीवन के संदर्भ में।

(१) जीना वर्तमान में होता है, अतीत या अनागत में नहीं; लेकिन मनुष्य

वर्तमान में अतीत के संस्कार और अनागत की कल्पना के साथ ही जीता है। अत: भूत से उच्छिन्न और भविष्यत् से पराङ्मुख आधुनिकता की धारणा वाग्विलास मात्र है। अनेक कल्पनाशील व्यक्ति और कलाकार जो औरों की अपेक्षा अधिक कल्पनाशील होते हैं, अपनी स्वभावगत सीमाओं के कारण कभी-कभी वर्तमान की अपेक्षा अतीत और भविष्यत् को भी वर्तमान में जिये बिना उनके कृतित्व में प्राण का संचार नहीं होता। जिस प्रकार जीवन के लिए वर्तमान का भोग अनिवार्य है, इसी प्रकार साहित्य के लिए भी वर्तमान की अनुभूति आवश्यक है। किन्तु जिस प्रकार जीवन की स्थिति पूर्वापर-क्रम से टूट-कर सम्भव नहीं है इसी प्रकार कला की सर्जना भी अतीत के संस्कार और अनागत के स्वप्न के बिना सम्भव नहीं हो सकती। अर्थात् वर्तमान की परिपूर्ण चेतना भी रम्य-अद्भुत तत्वों से सर्वथा शून्य नहीं होती।

(२) 'आधुनिक' का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही मानना चाहिए। युग-बोध, परंपरा का संशोधन, जीवन के वैविध्य की स्पृहा—अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसिद्धि—विकास की आकांक्षा, आदि ही उसके सही लक्षण हैं—विघटन और अगति या निराशा और अवसाद आदि तक ही आज की या किसी भी युग की आधुनिकता को सीमित कर देना यथार्थ-बोध नहीं है। जो जीवन का ही लक्षण नहीं है वह आधुनिकता का लक्षण कैसे हो सकता है?

आधुनिकता की चेतना जीवन की भाँति साहित्य-सर्जना की विधि का ही अंग है और यह चेतना जितनी प्रच्छन्न तथा अन्तर्व्याप्त रहेगी उतनी ही उपयोगी होगी। फिर भी यह विधि ही रहेगी और विधि के रूप में इसका अपना महत्त्व भी रहेगा—सच्चे अर्थ में मूल्य वह नहीं बन सकती; अर्थात् उसके आधार पर ही साहित्य के स्वरूप और गुण का निर्णय करना उचित नहीं है। प्रबल अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति ही साहित्य का मूल तत्व है और अनुभूति की प्रबलता तथा अभिव्यक्ति की सफलता के आधार पर ही साहित्य-गुण के तारतम्य का आकलन किया जा सकता है। अनुभूति के मूल्यांकन की कसौटी है उसका मानवीय गुण और मानवीय गुण के निर्णायक तत्व हैं—आनन्द और कल्याण : हितम् और प्रियम्। उधर, अभिव्यक्ति की सफलता के मूल्यांकन की कसौटी है संप्रेषण-क्षमता।—नया साहित्यकार शायद आज इसी रूढ़ दृष्टि के विरुद्ध आन्दोलन कर रहा है; पर मेरी भी अपनी मजबूरी साहित्य के इससे अधिक सच्चे निकष की प्रकल्पना नहीं कर सकती।

ग्यारह

गुरु नानक का भक्ति दर्शन

●

डा० विजयेन्द्र स्नातक

मध्ययुगीन सन्त परम्परा में गुरु नानक देव का विशिष्ट स्थान है। सामान्यत: वे एक क्रान्तिकारी समाज-सुधारक और धर्मोपदेष्टा के रूप में विख्यात हैं। किन्तु उनकी जीवन-साधना पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि उनका अवतार एक ऐसे पैगम्बर के रूप में हुआ था जिसके मन में समस्त मानवता के लिए ममता और समता का सागर लहराता था।

विश्व-बन्धुत्व की उदात्त भावना सन्त का परम लक्षण है। यह गुण गुरु नानक के चरित्र में इतने व्यापक रूप में समाया हुआ था कि वे मानवमात्र को सम दृष्टि से देखते थे। उनके लिए हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं था। हिन्दू धर्म की परम्परागत वर्ण-व्यवस्था को इसीलिए वे सर्वथा त्याज्य मानते थे क्योंकि इसके मानने से, मानव-मानव के बीच ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न होती है। यदि धर्म की उदात्त और अवदात परिभाषा को ध्यान में रखकर, उनके उपदेशों पर विचार किया जाय तो यह मानना होगा कि नानक की दृष्टि संकीर्णता से ऊपर एक शाश्वत धर्म पर टिकी थी जो मानव मात्र के लिए ग्राह्य हो सके। इसमें तनिक भी संदेह का अवकाश नहीं कि गुरु नानक गृहस्थ होते हुए भी परम योगी थे, शास्त्र का अंधानुकरण न करने पर भी गम्भीर तत्व-चिन्तक थे, कर्म काण्ड से विमुख रहते हुए भी गंभीर दार्शनिक थे, सहज साधु स्वभाव के कारण सच्चे सन्त और महान भक्त थे।

जिस युग में गुरु नानक का जन्म हुआ था वह राजनीतिक और धार्मिक

संघर्ष का युग था। हिन्दू धर्म, जो नानक का वंश-परम्परानुगत धर्म था, अंध-विश्वास, दम्भ, पाखड और आडम्बरों के मोह पाश में जकड़ा हुआ था। राजनीतिक क्षेत्र में मुगल शासकों के अत्याचारों से हिन्दू जाति में नैराश्य और कुंठा की गहरी उदासी छाई थी। इन विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी नानक के पूर्वजों का परिवार अपने गाँव में सुखी और शांत जीवन व्यतीत कर रहा था। जिस ग्रामीण परिवेश में नानक जन्मे, पले, पढ़े और युवक हुए वह उनके शांत स्वभाव के लिए सर्वथा अनुकूल था, फिर भी नानक का मन उस वातारण में रम नहीं सका। उनमें भीतर एक शंकाकुल मन सत्य की शोध के लिए छटपटा रहा था—जिसने उनके जोवन की दिशा को सर्वथा परिवर्तित कर दिया।

नानक का जीवन एक खुली हुई धर्म पुस्तक है जिसे पढ़कर और जिसका अनुसरण करके कोई भी साधक धन्य हो सकता है। कहते हैं 'सद् असद् वस्तु विवेक', 'भगवद्भक्ति', 'पावन चरित्र' और 'पर दुखकातरता' सन्त के सर्वोच्च गुण होते हैं। नानक में ये सभी गुण विद्यमान थे—यों न कहकर, यह कहना ठीक होगा कि गुरु नानक का निर्माण ही इन्हीं गुणों से हुआ था। इसका सबसे पुष्ट और प्रबल प्रमाण यह है कि उन्होंने अपनी मान्यताओं को कभी मतवाद का रूप नहीं दिया। अन्य मतावलम्बी को चुनौती देकर, शास्त्रार्थ के लिए ललकार कर या खंडन-मंडन का शस्त्र लेकर, गुरु नानक ने अपना धर्म प्रवर्तन नहीं किया। उन्होंने सदा यही कहा कि तुम अपने को पूर्ण ज्ञानी या पण्डित मत समझो—यह मानकर व्यवहार करो कि सीखने वाले शिष्य अर्थात् 'सिख' हो। तुम अपने सभी संकल्प, साधन, क्रिया, व्यापार किसी व्यापक सर्वशक्तिमान 'हुकुम' को समर्पित कर दो। यह हुकुम ही ओंकार है। इस हुकुम की जिज्ञासा से ही गुरु नानक का भक्ति-दर्शन प्रारम्भ होता है।

नानक के मत में ईश्वर न तो अवतार लेता है और न देवी देवताओं के रूप में उपास्य ही बनता है। उनके मत में परमात्मा अव्यक्त, निर्गुण, निरंजन और निर्लेप है। इस मान्यता के कारण नानक को सगुणोपासक वैष्णव भक्ति-धारा से सहज ही में पृथक किया जा सकता है। वैष्णव भक्त के लिए स्वीकृत प्रस्थान त्रयी का अनिवार्य अनुबन्ध नानक के लिए कभी स्वीकार्य नहीं हुआ। सच तो यह है कि नानक ने इस शास्त्र परम्परा से अपना सम्बन्ध स्थापित ही नहीं किया और वे उस लोक में विचरण करते रहे जहाँ परम्परा और रूढ़ि-

वादिता की कोई लीक पड़ी ही नहीं थी। नानक ने भक्ति और दर्शन दोनों क्षेत्रों में नई लीक डाली थी—ऐसी लीक जिस पर पहले कोई नहीं चला था। अपने निर्गुण ईश्वर का वर्णन करते हुए उन्होंने बड़ी स्पष्ट भाषा में वेद, शास्त्र, पुराण, अवतार, रामकृष्ण, कर्मकाण्ड, वर्णाश्रम धर्म आदि से अपने को सर्वथा अलग रखा—

ब्रह्मा विसनु महेसु न कोई। अवरु न दीस एको सोई।।
नारि पुरखु नहीं जाति न जनमा। ना को दुख सुख पाइदा।
जपतप संजम ना व्रत पूजा। ना को आखि बखाणैं दूजा।
आपे आपि उपाइ विगसै। आपे कीमति पाइदा।।
ना सुचि संजमु तुलसीमाला। गोपी कानु न गऊ गोवाला।
तंतु मंतु पाखण्डु न कोई। नाको वंसु वजाइआ।
वेद कर्तब न सिमृत सासत। पाठ पुराण उदै नहीं आसत।
कहता वकता आपि अगोचरु। आपे अलखु लखाइआ।।

जब निर्गुण ईश्वर ने सृष्टि रचना की उस समय ब्रह्मा, विष्णु और महेश कोई नहीं थे। उस एक निर्गुण निराकार को छोड़कर दूसरा और कोई दिखाई नहीं देता था। जन्म के दुख-सुख कुछ नहीं थे।

जप, तप, संयम, व्रत, पूजा का कोई आडम्बर नहीं था। कोई द्वैतभाव का वर्णन करने वाला भी नहीं था। ईश्वर अपने विकास को स्वयं जानता था—उसका मूल्य भी वही समझता था। तुलसी की माला आदि का कोई प्रयोग न था। न गोपियाँ थीं और न कृष्ण। न गौएँ थीं और न गोपाल। तंत्र-मंत्र, पाखंड कुछ भी नहीं था। वंशी बजाने वाले का प्रश्न ही नहीं उठता।

वेद, कतेव, स्मृति और शास्त्र की कोई चर्चा तक न थी। पाठ और पुराण का अस्तित्व ही न था। यह अगोचर और अलक्ष्य स्वयं अपने को प्रदर्शित करता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु नानक ने जिस ईश्वर की कल्पना की वह किसी मतवाद या शास्त्रवाद से पोषित न होकर स्वतंत्र शक्ति-सम्पन्न सत्ता है।

हुकमी सभे ऊपजहि हुकमी कार कमाहि।
हुकमी काले वसिहै हुकमी साचि समाहि।
नानक जो तिसु भावै सो थीये इना जंता वसि किछु नाहि।

अर्थात् परमात्मा के हुकम से सब उत्पन्न होते हैं और हुकम से ही सब अपना कार्य करते हैं। नानक कहते हैं कि जो उसे अच्छा लगता है वही होता है, प्राणियों के वश में तो कुछ भी नहीं है।

नानक ने माया और अहंकार का अभिन्न सम्बन्ध माना है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। माया (अज्ञान) से अहंकार उत्पन्न होता है और 'अहंकार विमूढात्मा कर्ता हमिति मन्यते' की स्थिति उत्पन्न होती है। अहंकार से भी माया अर्थात् अज्ञान पैदा होता है। माया ने जगत् के चित्त में वास किया हुआ है और भ्रम के कारण जीव के निमित्त दूसरी होकर प्रतीत होती है। माया ने काम, क्रोध, अहंकार का वेश धारण किया हुआ है। माया ही विनाश का कारण है।

दूजी माइआ जगत चितुवास। काम क्रोध अहंकार विनासु।
दूजी दुरमति आसै दोइ। आवै जाइ भरि दूजा होइ।

गुरु नानक ने माया या अज्ञान को आत्मसाक्षात्कार में बाधक माना है। आत्मसाक्षात्कार करने वाले व्यक्ति परमात्मा में लीन होकर तद्रूप हो जाते हैं। यह सिद्धान्त वेदान्त के सर्वथा अनुकूल है—

जिनी आतमु चीनिया परमातमु सोई।
एको अमृतु विरखु है फल अमृतु होई।
अंमृतु फल जिनी चाखिया सचि रहे अघाई।
तिनां भरमु न भेद है हरि रसन रसाई।

गुरु नानक के भक्ति-दर्शन में जगत् को सर्वथा मिथ्या न कहकर उसके प्रति निस्संग भाव का उपदेश है। जगत् विद्यमान है, इसका उपयोग भी है किन्तु अन्तिम सत्य जगत् मात्र नहीं है। जगत की धारणा वेदान्तानुमोदित नहीं है। स्वतंत्र चिन्तन द्वारा नानक ने जगत का निर्धारण किया है। जगत् का अस्तित्व क्षुधा-भूख में है। क्षुधा-तृष्णा का अस्तित्व है, इसमें तो संदेह नहीं किन्तु यही सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता।

अपने एक रूपक में नानक ने सच्चा किसान बनने की विधि बताते हुए कहा है कि शुभ कर्मों को धरती तथा परमात्मा के नाम को बीज बनाओ। सत्य की कीर्ति के जल से उस धरती को नित्य सींचो। इस प्रकार के सच्चे किसान बनकर विश्वास अंकुरित करो—

अमलु करि धरती बीज सब दो करि सच की आव नित देहि प्राणी।
होई किरसाण जंमाइ लै भिसतु दोजकु मूडे एव जाणी।

एक दूसरे रूपक में मदिरा बनाने की विधि बताते हुए अपनी भक्ति का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। वे कहते हैं हे साधक, परमात्मा के ज्ञान को गुड़ बनाओ, ध्यान को महुआ, शुभकरणी को बबूल की छाल—इन सबको एक में मिलादो। श्रद्धा को भट्टी और प्रेम को पोचा बनाओ। इस प्रकार अमृत रस वाली मदिरा तैयार होगी। नानक की आरती का रूपक तो सुप्रसिद्ध है। इस आरती के रूपक में उनका समस्त भक्ति-दर्शन समाया हुआ है—

गगन में थानु, रविचन्द दीपक बनै, तारिका मंडल-जनक मोती।
धूप मलयानलो, पवणु चंवरी करै, सगल वनराइ, फूलन्त जोती।।

गुरु नानक के भक्ति-दर्शन में गुरु, नाम और जप को प्रमुख स्थान प्राप्त है। सद्‌गुरु की कृपा बिना तो कोई सिद्धि होती ही नहीं। पग-पग पर शिष्य को गुरु का मुख जोहना होता है 'आसा दी वार' में सद्‌गुरु के गुणों में समस्त ज्ञान का संचय कर दिया है। नानक वाणी का अधिकांश गुरु-कृपा का संकेत करता है। गुरु के साथ नाम का भी अत्यन्त महत्त्व गुरु नानक ने स्वीकार किया है। वस्तुत: नाम और नामी का अभेद मानकर ही शायद यह नाम-महत्व गाया गया है। नाम शब्द का प्रयोग परमात्मा के व्यक्त रूप के लिए भी किया गया है। सदगुरु के उपदेश या शब्द को भी नाम से व्यवहृत किया जाता है।

मोक्ष प्राप्ति को ही नानक ने अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया है। किन्तु वह मोक्ष किसी इच्छा-कामना की पूर्ति रूप नहीं है। आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है। इस मोक्ष में स्वर्ग की भावना नहीं है। केवल शांति का अपार पारावार ही आत्म-साक्षात्कार जन्म-मोक्ष है।

गुरु नानक ने अपने भक्ति सिद्धान्तों का निरूपण करते समय केन्द्र में सदैव मानव या मनुष्य को रखा है। उनकी यह निश्चय धारणा थी कि इस विशाल सृष्टि में अनंत चेतन सत्ता सम्पन्न जीव हैं किन्तु मनुष्य ही उसमें सर्वश्रेष्ठ और मोक्ष पाने का अधिकारी है। 'अवर जोति तेरी पनिहारी, इस धरती महि तेरि सिकदारी।' मनुष्य के शरीर में परमात्मा ने महान ज्योति

की स्थापना की है। जब तक मनुष्य इस ज्योति को नहीं जानेगा तब तक बन्धन-मुक्त न होगा। मनुष्य का अहंभाव—मैंपन—ही बन्धन का मात्र कारण है। वस्तुत: नानक परमात्मा से विमुक्त आत्मा को जीव—मनुष्य मानते हैं। यह वियोग केवल अहंभाव के कारण होता है। यह अहंभाव मनुष्य की बेड़ी है। इसे काटने का प्रयत्न ज्ञानी पुरुष निरन्तर करते रहते हैं। लेकिन इन्हें काटना सहज नहीं है। पूर्व जन्म के कर्म, संसार रूप में हमारे साथ होते हैं जो इस जन्म में भी हमें पथ-भ्रष्ट कर सकते हैं। अत: अत्यधिक सतर्कता और सजगता की आवश्यकता है। गुरु नानक ने इस प्रसंग को रूपक की शैली में बड़े सुन्दर शब्दों में अंकित किया है—

करणी कागदु मन सम वाणी बुरा भला दुइ लेख भए।
जीउ-जीउ फिरतु चलाएनि उचलीए उहु गुण वाही अंतुरे॥
चित चेतसि की नहीं बावरिआ।
हरि विसरति तेरे गुण मल गलिआ॥
जाली रैनि जाल दिन हूआ जेती घड़ी फाही तेती।
हसिहसि चोग चुगहि नित फासहि छूटसि मूडे कवन गुणी।
काइआ आरणु, मनु विच लोहा पंच अगनि तिनु लागि रही।
कोइले पाप पड़े तिस ऊपरि मनु जलिआ सन्ही चित भई।

अर्थात् मनुष्य का कर्म कागज है और उस पर लिखने का साधन दवात मन है। उस पर भले और बुरे दो प्रकार के लेख लिखे जा रहे हैं। ये लेख मनुष्य को कर्मों में प्रवृत करते हैं। कर्म के इस प्रभाव को क्षीण करने के लिए हमें शुभ गुणों को स्वीकार करना चाहिए। ये शुभ गुण परमात्मा में सन्निहित हैं। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह शुभ गुणों के आगर परमात्मा का स्मरण करे और उसकी शरण में जाकर त्राण पावे। मनुष्य को संसार में फँसाने के लिए रात और दिन जाल बने हैं। दिन रात की घड़ियाँ हमारे पाश-बन्धन हैं। हम संसार के पाश में फँसे हुए आनंद का अनुभव करते हुए यहाँ चारा चुगते रहते हैं और फंस जाते हैं। मनुष्य की मुक्ति किन गुणों से होगी यही उसे जानना है। शरीर यही है। मनुष्य का मन इस मिट्टी में पड़ा लोहा है। पाँच अग्नियाँ इस मन रूपी लोहे को निरन्तर तपाती रहती हैं। पाप रूपी

कोयले उस अग्नि को और अधिक प्रज्वलित करते रहते हैं। मन रूपी लोहा चिन्ता रूपी सणासी से पकड़ा जाकर निरन्तर जलता रहता है।

नानक वाणी में मनुष्य को चेतावनी देने वाले सैंकड़ों पद मिलते हैं। इन पदों में नानक ने स्वानुभूति के आधार पर मनुष्य को बताया है कि इस संसार को अंतिम सत्य मानकर परमार्थ के लिए प्रयत्नशील बने रहना ही मनुष्य का धर्म रहना चाहिए। विषय-वासनाओं का जहाज लादकर मनुष्य संसार सागर में डाल दिया गया है। यह संसार अगम सागर है। इसका किनारा दिखाई नहीं देता। मनुष्य के हाथ में न तो बाँस है और न उस अथाह जल पर नियंत्रण करने का कोई अन्य साधन ही। अतः मनुष्य को अपनी सामर्थ्य सीमा का बोध स्वयं करना चाहिए। बोध होने के बाद इस अगम संसार सागर से पार जाने के लिए सद्गुरु का आश्रय लेना चाहिए। सद्गुरु के बिना कोई इस संसार सागर से पार नहीं गया। सद्गुरु महिमा का वर्णन नानक ने बहुत विस्तार से किया है। इस गुरु-महिमा को गुरुडम के भीतर न रखकर उपदेष्टा या सच्चे पथ-प्रदर्शक के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। परवर्ती काल में गुरु-महिमा गुरुडम ही का रूप धारण अवश्य कर गई है किन्तु गुरु नानक की दृष्टि पथ-प्रदर्शक गुरु पर ही केन्द्रित थी।

इस प्रकार संक्षेप में, गुरु नानक के भक्ति-दर्शन में मूल अवयवों पर दृष्टि-पात करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने किसी परम्परागत विचारधारा का अंधानुकरण न कर स्वयं अपना भक्ति-दर्शन स्थापित किया। स्वतंत्र-चिंतन, स्वानुभाव और आचरित सत्य के आधार पर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रति-पादन किया। आस्तिकता, सच्चरित्रता, मानवता, पर-दुख-कातरता, करुणा और प्रेम ही उनके जीवन के आदर्श थे। इन्हीं के माध्यम से उन्होंने अपना पथ बनाया था और इन्हीं को समस्त मानव जाति के लिए दिया था।

गुरु नानक स्वयं सद्गृहस्थ थे। दम्भ और पाखण्डपूर्ण वैराग्य को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। मन के त्याग, तितिक्षा और वैराग्य को नानक सच्चा वैराग्य समझते थे। गृहस्थाश्रम को स्वीकार करते हुए हम देखते हैं कि वे किसी संकीर्ण परिवार की परिधि में बँधे नहीं रहे। समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए उन्होंने एक ऐसे धर्म का उपदेश दिया जिसे कोई भी मनुष्य स्वीकार कर सकता है। वस्तुतः नानक देव का जन्म मानव जाति के कल्याण

के लिए हुआ था। उन्होंने आत्म-साक्षात्कार का मार्ग किसी कृच्छ साधना या कर्मकाण्ड के द्वारा नहीं बताया वरन् संसार में रहकर कर्म करते हुए ही आत्मोद्धार कर पथ प्रशस्त किया। नानक के धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह आस्तिक दर्शन पर आधृत होते हुए भी किसी प्रपंच या शास्त्र से बँधा नहीं है। नानक वाणी के अनुशीलन से जो सत्य उजागर होता है वह किसी सम्प्रदाय की संकीर्णता में आबद्ध नहीं है। नानक का सत्य मानव-मात्र का सत्य है—शाश्वत सत्य है, और सत्य है जिसे स्वीकार कर मानव जाति शांति और परमानंद का सुख प्राप्त कर सकती है।

बारह

राग-विराग

●

हरिशंकर परसाई

मई की दोपहरी है। बस स्टैण्ड पर बस खड़ी है। मुसाफिर आरहे हैं और बैठते जा रहे हैं। उच्च श्रेणी में दो-दो मुसाफिरों के बैठने के लिए एक के पीछे एक कई सीटें हैं। हर मुसाफिर की सीट पर टिकट का नम्बर होता है। पर यह अजीब लोभ है कि बस में घुसते ही कई मुसाफिरों के मन में यह आता है कि किसी दूसरी सीट पर बैठ जायँ। उस दिन चौराहे पर तीन-चार पुलिस के सिपाही पान वाले से दस सेर गाँजा पकड़ने की ऐतिहासिक घटना का सगर्व वर्णन कर रहे थे। एक सिपाही बड़े सहज भाव से बोला—"भैया उस माल में कम से कम ५०० रुपये मिलते, और किसी को कानों कान ख़बर नहीं होती। पर इस बलभद्र ने कोतवाली ले जाकर सब मटियामेट कर दिया।" दूसरे की जगह बैठने का इरादा और गाँजा पकड़कर ५०० रुपये लेने का इरादा—दोनों एक ही प्रकार का लोभ है—हमारे सामूहिक मन का प्रतिनिधि लोभ।

बस कंडक्टर ने मुसाफिरों को उठा-उठाकर उनकी ठीक जगह पर बैठाना आरम्भ कर दिया। लोग शहीदाना गर्व के साथ अपनी जगह पर बैठ रहे हैं, दूसरों की जगह पर जम जाने का उनका अधिकार जो छिन गया।

एक व्यापारी थलथलाते हुए आ रहे हैं—दुर्भाग्य से मेरे परिचित। कभी किसी का मिलन सौभाग्य बन जाता है, पर कभी उन्हीं का मिलन दुर्भाग्य। निमोनिया में मुरब्बा प्राण घातक है। वैसे मुरब्बा बहुत अच्छी चीज है।

सफर में 'बोर' व्यापारी निमोनिया में मुरब्बे की तरह ही है। वे तो दुकान पर ही भले लगते हैं।

पर मुझे देख कर वे खिल उठे। "अच्छा आप भी चल रहे हैं ?" कह कर मेरे बगल की खाली जगह पर आ बैठे। बस-ड्राइवर को देखकर गद्गद् हो बोले—"अच्छा, वज़ीर मियाँ, आप चल रहे हैं आज ?" वज़ीर मियाँ शायद उन्हें पहचानते नहीं हैं, पर वे इस विश्वास और आत्मीयता से वज़ीर मियाँ को गले लगा लेना चाहते हैं कि अगर बस कहीं किसी झाड़ से टकरा गई तो वज़ीर मियाँ सबको मर जाने देंगे, सिर्फ उन्हें बचा लेंगे।

वे मेरी ओर मुड़े और अपने भतीजे के लिए किसी स्कूल से झूठा सर्टिफिकेट प्राप्त करने की योजना पर विचार करने लगे। एक आँख बंद करके अँगूठे पर पहली अँगुली से चोट करके बोले, "कुछ खर्च करना पड़े तो पीछे नहीं हटेंगे।" उनके उद्देश्य की 'शुचिता' के साथ साधन रूप से अपना मेल होते देख मैं तनिक अकुलाया। पर इसी समय कंडक्टर मेरा 'मसीहा' बन गया। उसने उन्हें उठा कर मुझसे काफी दूर, उनकी ठीक जगह पर बैठा दिया।

अब मेरे पास एक युवक आ गया है। हाथ में एक फिल्म पत्रिका है। अब मैं बिल्कुल सुरक्षित हूँ। जिसके हाथ में फिल्मी पत्रिका है, वह बगल में बैठे भगवान से भी बात नहीं करेगा।

सीटें लगभग भर चुकी हैं। सिर्फ मेरे पीछे की सीट पर एक जगह खाली है। अभी केवल एक संन्यासी बैठे हैं, ४०-५० साल के होंगे—वैसे वे अपने को ८०-९० साल का बताते हैं। पुराना चालक और पुराना संन्यासी—दोनों कीमती होते हैं। तभी 'वेश्या बरस घटावहिं, जोगी बरस बढ़ाहिं।' अच्छे सुडौल हैं। ताज़े कटे लान की तरह उनकी खोपड़ी और दाढ़ी है। माथे पर तिलक, गले में कंठी। गेरुआ रंग अब सफेद होने लगा है।

संन्यासी को देख कर लोगों के मन में एक कुतूहलमय सम्मान जागता है। अगर संन्यासी ऊँचे क्लास में सफर कर रहा हो तब तो और सम्मान पाता है। और अगर अंग्रेजी भी बोल लेता हो, तो लोग न्योछावर होते हैं। पर बेचारे संन्यासी के मुख पर मैंने अक्सर परेशानी, निराशा, ग्लानि और असंतोष देखा है। लोगों की नज़रों में वह चाहे पूज्य हो, पर अपनी नज़रों में वह केवल दयनीय ही होता है। सांसारिकों पर घृणा की दृष्टि डाल कर वह

इस दयनीयता को अपनी ही नज़रों से छिपाने की कोशिश करता है, पर उसकी आँखों में तो वह खिड़की खोल कर बैठी है।

संन्यासी गीता पढ़ रहे हैं—

"यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत……"

और मेरे बगल में बैठा युवक अभिनेत्री सुरैया का नवीनतम चित्र देख रहा है। दोनों एक ही अप्राप्य काल्पनिक आनंद में लीन हैं। दोनों एक ही मृगतृष्णा के शिकार ! जैसी इसकी सुरैया, वैसे उसके भगवान् ! दोनों दूर बहुत दूर, स्वप्नवत्, अलभ्य, बेजाने-पहिचाने।

संन्यासी ने आगे झुककर नवयुवक की फिल्मी पत्रिका को देखा और घृणा से मुँह फेर लिया।

नवयुवक संन्यासी के श्लोकों से परेशान होकर खीझ कर बुदबुदाया—

"कैसी परेशानी है ?"—"What a nuisance ?"

बस अब चलने ही वाली है। मेरे परिचित व्यापारी ने पीछे की सीट से एक पान के एक अष्टमांश हिस्से का बीड़ा बना कर मेरी ओर बढ़ाया, मानो चेतावनी दे रहा है कि किसी भी क्षण आक्रमण कर दूँगा।

एक रिक्शा आकर रुका उसमें से एक महिला फुर्ती से निकली। शरीर क़ीमती साड़ी में लिपटा, हाथ में बैग। यौवन का ज्वार अब भाटा हो रहा है—यही ३५ वर्ष के आस-पास होगी। सुडौल मुख, पानीदार आँखें, मुद्रा में संकोचहीनता, चाल में स्वाभाविक सत्ता की दृढ़ता। वह बस में घुसी और कंडक्टर से पूछा—"मेरी सीट ? नम्बर आठ की है।" कंडक्टर ने संन्यासी के बगल की खाली सीट की ओर इशारा कर दिया। सारी बस में वही सीट खाली थी।

स्त्री बढ़ी और संन्यासी के बगल में बैठने का उपक्रम करने लगी।

इधर संन्यासी पर जैसे बिजली गिर पड़ी। वे एकदम घबड़ा कर उठ खड़े हुए, मानों सीट पर साँप पड़ा हो। हाथ जोड़ कर बोला—"नहीं-नहीं देवी ! यहाँ मत बैठो, कहीं और बैठ जाओ !" स्त्री ठिठक गई। उसने कंडक्टर की ओर देखा। कंडक्टर ने कहा—"महाराज जी, और सीट तो खाली नहीं है। वे कहाँ बैठेंगी ? यह सीट तो उन्हीं की है।"

संन्यासी ने अत्यन्त दीन नयनों से उनकी ओर देखा। कहा—"नहीं-नहीं भैया, मैं स्त्री के पास नहीं बैठ सकता। स्त्री का संग मुझे वर्जित है। मैं संन्यासी ठहरा।"

मुसाफिरों का ध्यान संन्यासी की ओर खिच गया। सबके नयनों में उत्सुकता है। गर्मी और बस की नीरसता में मन बहलाव का एक जरिया तो मिला। स्त्री कहीं और भी बैठ सकती है, किसी अन्य मुसाफिर को वहाँ बैठा दिया जा सकता है। और कितने लोग उम्मीद लगाए बैठे होंगे कि सीट-विनिमय में हमें ही स्त्री का सामीप्य-लाभ हो जाए। पुरुषों से भरी बस में स्त्री ! जैसे विस्तृत रेगिस्तान में झरना। पर संन्यासी की कातरता और दीनता का मजा सभी ले रहे थे। वह स्त्री भी वहीं अड़ी रही। कंडक्टर भी हट करने लगा। और हम लोग आँखें फाड़े ही थे। विश्वामित्र-मेनका ! शुक-रम्भा ?

पर स्त्री बड़ी प्रगल्भा निकली। संकोच जैसे वह जानती ही नहीं है। वह कहने लगी—"महाराज, आप तो पिता-तुल्य हैं। मैं एक किनारे बैठ जाऊँगी। संन्यासी के ही पास तो हम निर्भय और निःसकोच बैठ सकती हैं।" हम सब चकित हैं। कैसी चालाक है।

संन्यासी बोले, "नहीं-नहीं देवी मुझे संकट में न डालो। मेरे गुरु की आज्ञा है। माता और पुत्री का संग भी हमारे लिए निषिद्ध है। धर्म का आदेश है।"

स्त्री अब तमतमा गई है। उसने बड़े रोष और घृणा से कहा, "महाराज जी, जो धर्म माता और पुत्री से डरने के लिए कहता है, वह धर्म नहीं हो सकता। वह पाखण्ड है ?"

संन्यासी अब हत-तेज हो गये हैं। उन्हें उत्तर नहीं सूझ रहा है। इसी समय मैंने कह दिया, "संन्यासी जी बैठ जाने दीजिए न। आप तो वीतराग हैं।"

इस समय पुलिस के सिपाही ने ड्राइवर से कहा, "वज़ीर मियाँ, चलो स्टार्ट करो। पाँच मिनट लेट हो गई।"

भीतर से मुसाफिर चिल्लाये, "अरे भाई गर्मी में यहीं मार डालोगे क्या स्टार्ट करो गाड़ी।"

ड्राइवर ने बटन दबाया। इजन 'घर्र' बोला और इस गड़बड़ में वह स्त्री संन्यासी की बगल में उसी सीट पर बैठ गई। संन्यासी एकदम बस की दीवार से सट कर बैठ गये। उन्होंने बड़े कातर नेत्रों से हम लोगों की ओर देखा। वह नारी बडी बेफिक्री से बैठी थी।

बस अब चलने लगी। संन्यासी वैसे ही दुबके, भयभीत एक कोने में बैठे हैं, जैसे बगल में सिहनी सो रही है, जो यदि जाग गई तो प्राण ले लेगी। उन्होंने जोर-जोर से गीता पढ़ना आरम्भ कर दिया—

"कर्मेन्द्रियानि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।" बचपन की मुझे याद आ गई। शाम को खेल कर घर लौटता तो, 'भुतही इमली' के नीचे से निकलना पड़ता था। भूत से बचने के लिए मैं खूब ज़ोर से गाना गाता था। मेरे गाने से भूत भागता था या नहीं, यह तो नहीं जानता, पर मेरे मन का भय ज़रूर भाग जाता था। संन्यासी जोर-जोर से गीतापाठ कर रहे हैं। मुझे अपनी उसी 'भूत भगाऊ' गाने की याद आ गयी।

वे गीता पढ़ रहे हैं। सोचता हूँ जो कभी पुस्तक को बार-बार पढ़ता है वह समझ कर तो ऐसा नहीं कर सकता। अच्छे से अच्छे ग्रन्थ को कोई समझ कर पढ़े तो दो-चार बार पढ़ सकता है। पर जो बार-बार उसे पढ़ता है, रोज़ एक बार पाठ कर जाता है, वह ज़रूर बिना समझे ही पढ़ता है। ज़िंदगी भर से संन्यासी जी गीता पढ़ रहे हैं, जैसे हलवाई ज़िंदगी भर मिठाई बनाता और बेचता है। पर मिठाई देख कर कभी हलवाई की जीभ में तो पानी नहीं आता। संन्यासी भी गीता से बिलकुल निर्लिप्त रह कर गीता पढ़ लेते हैं, जैसे ग्रामोफ़ोन का रिकार्ड आरती गाता है। उनका स्वर काफ़ी तेज़ हो गया है। ज्यों-ज्यों 'भुतही इमली' नज़दीक आती जाती, मैं भी अपने गाने का स्वर बढ़ाता जाता था।

संन्यासी ने मेरी पुस्तक की ओर देखा। पूछा, "धार्मिक पुस्तक है ?"

मैंने कहा, "नहीं कहानी की है।" संन्यासी ने घृणा से मुँह फेर लिया।

अब मुसाफिरों का ध्यान संन्यासी की ओर नहीं है। कुछ पढ़ रहे हैं. कुछ ऊँघ रहे हैं, कुछ जाली के उस पार बैठी तरुणियों पर आँखें लगाये हैं, और जिन्हें कुछ नहीं मिलता वे बिचारे गर्दिश के मारे इस निर्भय प्रौढ़ा की ओर देख लेते हैं।

रास्ते में एक कुआँ दिखा तो संन्यासी ने बस रुकवाई। कमंडल लेकर कुएँ पर पहुँचे; पानी पिया और भरते लाये। उस स्त्री से पूँछा "देवी पानी पियोगी ?" स्त्री ने अनिच्छा से एक गिलास पानी पी लिया। हम लोगों को संन्यासी पर अब बड़ी दया आने लगी।

पच्चीस मील निकल गए। संन्यासी माला फेर रहे हैं। एकदम चौंककर दीन वाणी से बोले, "देवी क्षमा।" शायद माला फेरते-फेरते हाथ लग गया होगा संन्यासी का।

मील पर मील निकलते जा रहे हैं। संन्यासी का पाठ जारी है। स्त्री भी एक किताब पढ़ रही है। बीच-बीच में एकदम किताब बन्द कर देती है। बड़ी परेशानी से आस-पास देखती है। वह खीझ कर बोली, "महाराज, जरा ठीक से बैठो।"

संन्यासी ने हाथ जोड़ कर कातर वाणी में कहा, "देवी क्षमा करना, ध्यान में डूब गया था।"

फिर पच्चीस मील निकल गये। संन्यासी ने अब स्थिति के साथ समझौता कर लिया है। पर स्त्री परेशान हो गई है। ज्यों-ज्यों संन्यासी परिस्थति के साथ समझौता करते जाते हैं, त्यों-त्यों स्त्री की परेशानी बढ़ती जाती है।

संन्यासी अब एक ही श्लोक को बार-बार कह रहे हैं। एक बार, दो बार, तीन बार, आठ बार ! उनका स्वर टूटा है, उच्चारण में अटपटापन है, गले में खरखराहट ! मैंने पीछे देखा कि कहीं संन्यासी ऊँघ तो नहीं रहे हैं। नहीं, वे तो खूब आँखें फाड़े बैठे हैं। मुझसे आँखें मिलीं तो एक दम चौंक कर श्लोक बदला। बड़ी फुर्ती से दो-तीन आँगे से श्लोक पढ़ गये।

अब फिर एक श्लोक बार-बार कह रहे हैं। स्वर टूटता है। उच्चारण अटपटा, गले में खरखराहट। निःश्वास की गति बहुत तीव्र है। गीता अँगुलियों में फिसल कर लगभग उलटी हो गयी है।

बस चली जा रही है। योगी और भोगी को एक गति से ले जा रही है। धुँधलका होने लगा है। बस में मद प्रकाश में पढ़ना सम्भव नहीं है। मैंने किताब बन्द कर दी है। सफ़र में अँधेरा होते ही नींद आने लगती है। लोग ऊँघने लगे हैं।

मेरा पड़ोसी युवक अब भी किसी अभिनेत्री का चित्र देखने में मशगूल है। संन्यासी जी का अटपटा पाठ चल रहा है। कभी चौथे अध्याय का श्लोक बोल

देते हैं, कभी दूसरे का। उनका सिलसिला टूट गया है। उस ओर मेरे परिचित सेठ हथेली पर सिर रखे ऊँघ रहे हैं। वज़ीर मियाँ वैसे ही मुस्तैदी से बैठे हैं। उस सीट पर के वृद्ध सज्जन ने ड्राइवर की सीट तक टाँगें फैला ली हैं। सब शान्त हैं। सब ऊबे हैं। बाहर प्रकृति भी बड़ी ऊबी-ऊबी-सी लगती है। इंजन की 'घर्र-घर्र' और संन्यासी का गीता पाठ, इन दोनों में ही होड़ है।

स्त्री बहुत परेशान है।

वह एक दम अपनी सीट से उठी। चिल्लाई—"गाड़ी रोको।"

वज़ीर मियाँ ने गाड़ी रोक दी। "क्यों क्या बात है ?" उसने पूछा।

संन्यासी ने कहा, "बैठ जाओ देवी।"

स्त्री ने संन्यासी को एक चाँटा मारा और बोली, "लुच्चा, बदमाश कहीं का ?" फिर कंडक्टर से बोली, "मुझे कहीं और बिठा दो भैया।"

परिशिष्ट

- लेखक परिचय
- शब्दार्थ
- सम्भावित प्रश्न

लेखक परिचय

प्रतापनारायण मिश्र

जन्मस्थान—कानपुर

जन्म—१८५६ ई०

निधन—१८९४ ई०

जीवन-वृत्त—भारतेन्दु ने अपनी प्रतिभा के द्वारा हिन्दी गद्य की भाषा को परिमार्जित किया और उनसे प्रेरणा प्राप्त कर एक ऐसा लेखक-मण्डल तैयार हुआ जिसके लेखकों ने नाना प्रकार की शैलियों का रूप निर्धारित किया। इन लेखकों की शैली उनके व्यक्तित्व के अनुरूप अत्यधिक चमत्कारपूर्ण और जिंदादिली से परिपूर्ण थी। प्रतापनारायण मिश्र इसी प्रकार के एक जिंदादिली लेखक थे। उनका जन्म सन् १८५६ में कानपुर के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पूर्वज बैजेगाँव (जिला उन्नाव) से आकर कानपुर बस गये थे। इनके पिता पं० संकटाप्रसाद मिश्र अच्छे ज्योतिषी थे। वे उन्हें भी अपने जैसा ज्योतिर्विद बनाना चाहते थे और ज्योतिष पढाकर पैतृक व्यवसाय में ही लगाना चाहते थे। परन्तु मनमौजी प्रतापनारायण का मन उधर बिल्कुल नहीं लगा, अतः उन्हें अंग्रेजी स्कूल भेज दिया गया। यहाँ भी स्कूल का कड़ा अनुशासन कर्मशीलता, विषय की प्रतिबन्धता और नीरसता उनके मनमौजी स्वभाव को तनिक भी रास न आई। फलस्वरूप उन्होंने विद्यार्जन स्कूल में नहीं घर ही स्वाध्याय से किया और संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, बंगला में अच्छी प्रकार पारंगत हो गये। कानपुर के प्रसिद्ध कवि ललिताप्रसाद के सहयोग से उन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा को प्रकाशित किया। उस समय कानपुर लावनीबाजों का प्रमुख गढ़ था और मिश्र जी स्वभाव से लावनी-प्रिय थे अतः उन्होंने लावनियाँ और ख्याल रचना आरम्भ

कर दिया तथा यहीं उनकी रचनात्मक प्रतिभा को पूर्ण चमक-दमक के साथ उदित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मिश्र जी पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'कवि वचन सुधा' मे प्रकाशित मनोरंजक गद्य-पद्यमय लेखों का प्रभाव भी काफी पड़ा।

सन् १८८३ में उन्होंने 'ब्राह्मण' एक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र में प्रमुखतया सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक लेख प्रकाशित होते थे। दस वर्ष तक यह पत्र नियमित रूप से निकलता रहा, बाद में बंद हो गया। सन् १८८९ में उन्होंने कालाकांकर से निकलने वाले 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन किया, परन्तु अपने स्वच्छन्द स्वभाव के कारण वहाँ अधिक समय तक न ठहर सके। कानपुर में उन्होंने 'नाटक सभा' नाम की एक संस्था स्थापित की थी, इस सभा का उद्देश्य था—पारसी थियेटर के समान हिन्दी रंगमंच की स्थापना—और उन्हें कुछ सीमा तक इस उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त हुई। वह एक अच्छे अभिनेता भी थे और बहुत कुछ भारतेन्दु के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित भी थे। उनकी दृष्टि में भारतेन्दु गुरु से कम न थे। मिश्र जी स्वभाव से बहुत विनोदी, वाक्पटु, भावुक, प्रत्युत्पन्नमति थे। सन् १८९४ में ३८ वर्ष की अल्पायु में ही उनका निधन हो गया था।

साहित्य-साधना—हिन्दी गद्य-निर्माताओं में मिश्र जी का विशेष स्थान है। उन्होंने सरल और गंभीर दोनों ही प्रकार के निबन्धों की रचना की। जैसे बात, आप, बुढ़ापा, दाँत, रिश्वत, धोखा, समझदार की मौत आदि। उन्होंने साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक निबन्ध भी लिखे हैं। उनकी गद्य-शैली की प्रमुख विशेषता है व्यंग्यपूर्ण वक्रता का बाहुल्य। विनोदप्रिय तो थे ही, अतः यथास्थान 'निबन्धों में हास्य, व्यंग्य, मनोरंजन, विनोद का पुट देना नहीं भूलते थे।' विचारात्मक और गंभीर निबन्धों में भी हास्य-व्यंग्य का चुटीलापन तथा उनकी जिंदादिली साफ उभरी दृष्टिगत होती है। चाहे विषयों की विविधता हो लेकिन वही विनोदप्रिय शैली और वही भाषा का संयत रूप सर्वत्र विराजमान मिलेगा। भाषा मुहावरेदार है, उसमें एक चंचलता और प्रवाह है। ग्रामीण शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है जहाँ सुरुचि या शिष्टता की भी कोई चिन्ता उन्होंने नहीं की, उन्हें तो अपनी भाषा को अधिकधिक रोचक और चटपटी बनाने की धुन सवार थी। भाषा में इसी कारण व्याकरण की भूलें, यथा विरामों का अशुद्ध प्रयोग, देखी जा सकती हैं।

उनकी समस्त रचनाओं का संग्रह नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से 'प्रताप-नारायण मिश्र ग्रन्थावली' नाम से प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने निबन्धों के अतिरिक्त नाटक और कविताएँ भी लिखीं। 'संगीत शाकुन्तल' लावनियों में रचित एक पद्य-नाटक है। नाटकों में 'भारत दुर्दशा', 'हठी हम्मीर' और 'कलि कौतुक' भी प्रसिद्ध हैं। 'प्रताप लहरी' नामक उनका कविता-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है।

प्रमुख रचनाएं—निबन्ध-नवनीत (निबन्ध संग्रह), काव्य कानन (आलोचना), प्रतापलहरी (कविता-संग्रह), कलि प्रभाव, हठी हमीर, गोसंकट (नाटक), कलिकौतुकी, भारत दुर्दशा (रूपक), जुआरी-खुआरी (प्रहसन) आदि उनके मौलिक ग्रन्थ हैं। कथामाला, पंचामृत, चरिताष्टक, नीतिरत्नावली, राजसिंह, राधारानी आदि अनूदित ग्रन्थ हैं।

बालमुकुन्द गुप्त

जन्मस्थान—गाँव गुरयानी (जि० रोहतक)

जन्म—सन् १८६५

निधन—सन् १९०७

जीवन-वृत्त—बालमुकुन्द गुप्त का जन्म हरियाणा प्रदेश के अन्तर्गत जिला रोहतक के गुरयानी नामक गाँव में सन् १८६५ ई० में हुआ था। गुप्तजी परम्परावादी हिन्दू थे। सनातन धर्म, वर्णाश्रम-व्यवस्था, जाति-भेदभाव और रीति-रिवाजों में अटूट आस्था रखते थे। उन दिनों जाति-प्रथा दम तोड़ रही थी, इसकाउन्हें अफसोस था। वह अपने समय के एक निर्भीक पत्रकार और महान् देशभक्त थे। अन्याय, अत्याचार, पाखण्ड से उन्हें सख्त नफ़रत थी। जनतंत्र के पक्के हिमायती थे। उन्हें उर्दू से नफ़रत नहीं, प्रेम था। वह उर्दू के उच्छे लेखक थे और यही चाहते थे कि हिन्दी वाले उर्दू लिखें और उर्दू वाले हिन्दी लिखें। उनकी यह अडिग धारणा थी कि अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू का ज्ञान अनिवार्य है। अतः वह हिन्दी व उर्दू दोनों के सफल रचनाकार थे लेकिन हिन्दी का सरल सुगम रूप ही उन्हें प्रिय था। सन् १९०७ में उनका निधन हुआ।

साहित्य-साधना—"बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग के महारथियों में एक

साधारण सिपाही की तरह शामिल हुए, लेकिन बहुत जल्द उन्होंने सेनापति का स्थान पा लिया। उस युग के तमाम लेखक उन्हें अपना नेता मानने लगे। वह भारतेन्दु युग के सच्चे उत्तराधिकारी साबित हुए।" (डा० रामविलास शर्मा) वह शुद्ध और परिष्कृत हिन्दी लिखने में अपना सानी नहीं रखते थे। उनके विषय में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा था—"अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त।" वह पहले उर्दू लिखते थे और मिर्जापुर से 'अखबार-ए-चुनार', लाहौर से 'कोहेनूर' का सम्पादन किया। लाहौर में ही वह हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए। बाद में कालाकाँकर से निकलने वाले "हिन्दुस्तान" नामक हिन्दी के तत्कालीन प्रसिद्ध समाचार पत्र का संपादन किया। 'बंगवासी' और 'भारतमित्र' का भी इन्होंने सम्पादन किया।

गुप्त जी को 'शिवशम्भु' से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसमें राजनीतिक निबन्ध हैं। अंग्रेजों की कुनीति की व्यंग्यात्मक आलोचना करना उन्हें अभीष्ट था। भारतीय असहाय जनता पर वह किस प्रकार के नृशंस अत्याचार करते थे यही दिखाना उनका उद्देश्य था। अन्योक्ति, रूपक के द्वारा उन्होंने अंग्रेजों पर मीठी छुरी से मार की। उनकी शैली अत्यन्त रोचक, सजीव, व्यंग्यात्मक और प्रखर है—वह सीधे कलेजे को प्रभावित करती है। हास्य-व्यंग्य की पुट से उसमें एक अजीब दिलकशी और जिंदादिली आ गई है और उर्दू की चाशनी से एक नयी बहार छा गई है। कहावतों और लतीफ़ों का उनके पास एक बड़ा पिटारा है। उनकी कला में यदि निखार आया है तो इन्हीं लतीफों से, चुटीले व्यंग्यों से और मुहावरेदार भाषा से। ऐसा सुन्दर—मौक़े का उत्तर देते कि बस चिपक कर रह जाता—दूसरे का मुँह बन्द हो जाता। व्यावहारिक, जोरदार और प्रभावोत्पादक शैली ने उनकी भाषा के रूप को निखारा है। भाषा पर असाधारण अधिकार था तभी तो उनकी आलोचना भी खूब चमकी। कुछ दिनों महावीरप्रसाद द्विवेदी से उनका पत्र-युद्ध भी हुआ जो पाठकों के लिए बड़ा आकर्षक और मनोरंजक सिद्ध हुआ। उन्हें हम भारतेन्दु युग का अन्तिम प्रतिनिधि लेखक कह सकते हैं, और सच्चा उत्तराधिकारी भी मान सकते हैं।

रचनाएँ— गुप्त निबन्धावली, चिट्ठे और खत, शिवशम्भु का चिट्ठा, स्फुट-कविता (कविता संग्रह), 'रत्नावली' नाटिका का अनुवाद।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जन्मस्थान—ग्रा० अगोना (जि० बस्ती, उ० प्र०)

जन्म—१८८४ ई०

निधन—१९४१ ई०

जीवन-वृत्त—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् १८८४ में अगोना गाँव (जि० बस्ती) के सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० चन्द्रबली शुक्ल था। ३० वर्ष की अल्पायु में जब उनके दादा शिवदत्त का निधन हो गया तो उनकी दादी चार वर्ष के पुत्र चन्द्रबली को लेकर नगर की रानी की कृपा से अगोना में घर बनवा कर रहने लगीं। चन्द्रबली क्वींस कालेज वाराणसी से एंट्रेंस पास कर पहले सुपरवाइजर कानूनगो फिर सदर कानूनगो हो गये और इटावा, राठ, मिर्जापुर आदि स्थानों पर कार्य किया। वह फारसी, अरबी और उर्दू के भी अच्छे ज्ञाता थे। रामचन्द्र शुक्ल की शिक्षा कई स्थानों पर हुई। उन्होंने राठ में विद्यारम्भ की। उर्दू और अंग्रेजी के साथ मिर्जापुर से मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की और बाद में मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल से हाईस्कूल किया। प्रयाग में इंटर में अध्ययन आरम्भ किया परन्तु अधूरी पढ़ाई छोड़कर मिर्जापुर ही चले गये। वह मुख्तारी की परीक्षा देने के इच्छुक थे परन्तु विमाता के कलह के कारण ऐसा न कर सके और उन्हें सपरिवार अगोना जाना पड़ा।

तत्कालीन कलेक्टर मिस्टर विंढम की कृपा से उन्हें २० रु० मासिक पर नायब तहसीलदारी मिल गई परन्तु किसी दिन दफ्तर में अफसर से कहा सुनी हो जाने पर नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। कुछ समय तक एक स्कूल में ड्राइंग मास्टरी भी की। स्वाध्याय से उन्होंने बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनके लेख १४-१५ वर्ष की अवस्था से ही 'भारत-जीवन' में प्रकाशित होने लगे थे। 'आनंद कादम्बिनी' (१९०३) और 'हिन्द केसरी' (१९०७) का संपादन किया। पटना से निकलने वाले 'बिहार बन्धु' (१९११-१२) के भी वह संपादक रहे। उन्होंने 'हिन्दी शब्द-सागर' के सहायक संपादक के रूप में भी कार्य किया। बाद में 'नागरी प्रचारिणी सभा' पत्रिका का भी संपादन किया। सन् १९२१ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक हुए और सन् १९३७ में श्यामसुन्दरदास पद से

निवृत हुए तो उनके स्थान पर शुक्ल जी काशी हिन्दी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हुए जिस पद पर उन्होंने पूर्ण योग्यता और कुशलता से कार्य किया और सन् १९४१ में श्वास रोग के कारण उनका देहान्त हो गया।

साहित्य-साधना—शुक्ल जी प्रकृति से जितने नम्र, मिलनसार और सुशील थे उतने ही गंभीर, निर्भीक तथा स्वाभिमानी भी थे। वह द्विवेदी युग की अद्वितीय विभूति थे। ऐसी अद्भुत प्रतिभा का धनी विरला ही कोई होता है। हिन्दी आलोचना को जो एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक रूप दिया उसका ऋण हिन्दी जगत कभी नहीं चुका सकता। वह हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने कविता, निबन्ध, आलोचना, अनुवाद, सम्पादन, इतिहास सभी में अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाये और हिन्दी को अनमोल कृतियाँ प्रदान कीं। उनके समय हिन्दी आलोचना अपनी शैशवावस्था में थी। उसके प्रतिमान पुरानी पद्धति के थे। उन्होंने न केवल नवीन प्रतिमान या मापदण्ड प्रदान किए वरन् उसे नवीन आत्मा, नवीन कलेवर, नवीन अलंकरण सभी कुछ प्रदान किए। अतः यदि हम उन्हें आधुनिक आलोचना का जनक कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। उन्होंने आलोचना को गुण-दोष की संकीर्ण वीथि से निकालकर एक विशद भूमि प्रदान की, तथा लेखक की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए आलोजना को सर्वांगीणता का गुण प्रदान किया। उन्हें 'प्रबन्ध-आलोचना' का आरम्भकर्ता माना जा सकता है। जायसी, सूर, तुलसी, पर उनकी मनोवैज्ञानिक प्रबन्ध-आलोचनाएँ अपना अक्षुण्ण महत्व रखती हैं, उन्होंने हिन्दी आलोचना में नवीन अध्याय जोड़ा है। वस्तुतः उन्होंने हिन्दी-आलोचना को नवीन स्फूर्ति तथा चेतना प्रदान कर—उसे संपुष्ट कर भविष्य के लिए सुदृढ़ आधार शिला तैयार की। उनकी आलोचनाएँ मुख्यतः दो प्रकार की हैं—(१) सैद्धान्तिक, (२) व्यावहारिक। सैद्धान्तिक आलोचना विश्लेषणात्मक है। यहाँ वह निर्णयात्मक एवं विवेचनात्मक समीक्षक हैं और और गहन अध्ययन, चिन्तन तथा सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय मिलता है। व्यावहारिक आलोचना उनकी रुचियों का प्रदर्शन है और वे 'लोकधर्म' पर अवलम्बित हैं।

आलोचना के रूप में वह जितने प्रसिद्ध हैं निबन्धकार के रूप में भी उनका नाम उतना ही बड़ा है। लोभ, क्रोध, घृणा, श्रद्धा और भक्ति आदि मनोभावों पर लिखे उनके निबन्धों का हिन्दी में अनुपम स्थान है। उनके निबन्धों को दो

श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भावात्मक या मनोवैज्ञानिक-जैसे, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय आदि मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध। (२) समीक्षात्मक, ऐसे समीक्षात्मक निबन्धों में सैद्धान्तिक समीक्षा के निबन्ध, और व्यावहारिक समीक्षा के निबन्ध दोनों प्रकार के शामिल हैं। 'चिन्तामणि' भाग २ में इसी प्रकार के निबन्ध संकलित हैं। गम्भीरता, विचारशीलता, पाण्डित्य, तीखा व्यंग्य उनके निबन्धों की शैली की विशेषताएँ हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिकाधिक विचारों को संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ भाषा में व्यक्त करना शुक्ल जी की अपनी विशेषता है। उनके निबन्धों की प्रमुखतः दो शैलियाँ हैं—(१) निगमन शैली, इसके अनुसार वह अपने मत या सिद्धान्त को सूत्र रूप में रखकर तत्पश्चात् उसका सतर्क, सोदाहरण विश्लेषण करते हैं। (२) आगमन शैली, इसके अनुसार वह पहले अपने मत या सिद्धान्तों का सतर्क, सोदाहरण विश्लेषण करते हैं और तत्पश्चात् समापन के रूप में एक सूत्र में उसका निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं।

उनकी शैली के तीन रूप मुख्य हैं—

(१) **विवेचनात्मक शैली**—आलोचना में इसी शैली का प्रयोग किया गया है। इसमें वाक्य छोटे, गम्भीर और मार्मिक हैं। भाषा में तत्सम शुद्ध शब्दों का प्रयोग अधिक है। विषय का स्पष्टीकरण सुबोध रूप में किया गया है। हास्य-व्यंग्य का अच्छा पुट दिया गया है।

(२) **गवेषणात्मक शैली**—नवीन विषयों का प्रतिपादन इसी शैली में किया गया है। यहाँ भावों की जटिलता के कारण भाषा की दुरूहता भी विद्यमान है। वाक्य दीर्घ हैं, नवीन शब्दों का निर्माण भी किया गया है।

(३) **भावात्मक शैली**—मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध इसी शैली में लिखे गये हैं। यहाँ वाक्य छोटे तथा कहीं-कहीं पर सूक्ति-रूप में दिये गये हैं जैसे "साहस-पूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है।"

शुक्ल की भाषा शुद्ध, प्रांजल और परिमार्जित है। उसमें तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। उसमें यत्रतत्र उद्धरणों का प्रयोग भी किया गया है। उनकी भाषा पर उनके गंभीर और पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप पड़ी है। भावों के अनुसार उसके रूप में भी परिवर्तन होते रहे हैं, कहीं वह दुरूह है, कहीं अत्यन्त सुबोध है, कहीं गम्भीर है और कहीं व्यंग्यात्मक है, रोचक है। वाक्य संयत,

सुगठित और भाव-पुष्ट हैं। उन्हें अस्पष्टता और अप्रचलित शब्दों से चिढ़ है। शब्द-चयन, सुगठित वाक्य-योजना उनकी अपनी निजी विशेषता है। उर्दू, फारसी, अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों से उन्हें कोई परहेज नहीं। हास्य-व्यंग्य को चुटीला तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए इस प्रकार के शब्द उन्होंने प्रयुक्त किये हैं।

रचनाएँ—मौलिक ग्रन्थों में चिन्तामणि, त्रिवेणी, सूरदास, मधुस्रोत, रसमीमांसा, तुलसीदास, हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रसिद्ध हैं। सम्पादित ग्रन्थ हैं—भ्रमरगीत, तुलसी साहित्य, जायसी ग्रन्थावली, हिन्दी शब्द सागर। अनूदित ग्रन्थ ये हैं—बुद्ध चरित, विश्व-प्रपंच, आदर्श जीवन, शशांक आदि।

पं० श्रीराम शर्मा

जन्मस्थान—किरथरा, जि० मैनपुरी

जन्म—२३ मार्च १८९२ ई०

निधन—१९६७ ई०

जीवन-वृत्त—शिकार-साहित्य के निर्माणकर्ता श्रीराम शर्मा का जन्म २३ मार्च सन् १८९२ में किरथरा ग्राम (जि० मैनपुरी, उ० प्र०) में हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। अपने विद्यार्थी जीवन से ही वह निर्भीक, साहसी और सघर्षशील थे। स्वतंत्रता-आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया। उन्हें गांधीजी का सान्निध्य प्राप्त था। बड़े-बड़े नेताओं के साथ उन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए काम किया और जेल-यात्रा करनी पड़ी। सन् १९४२ में यू० पी० षडयंत्र केस में उन्हें फाँसी दी जाती, लेकिन कैलाश नाथ काटजू ने उनके केस की पैरवी की और वह बरी हो गये। उन्होंने 'विशाल भारत' का अति कुशलता से सम्पादन किया और देशवासियों में स्वतंत्रता की भावना को उत्तेजित किया। इस प्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

साहस और संघर्ष से उनका व्यक्तित्व बना था। पर्यटन में ऐसी रुचि थी कि प्राणों को संकट में डालना उनके लिए मामूली बात थी। न जाने कितने

वन-खण्डों में घूमे थे। हिमालय पर्वत पर भी घूमे और वन्य पशु-पक्षियों के जीवन का निकटता से अध्ययन किया। वन्य पशुओं के शिकार का उन्हें बहुत शौक था। जहाँ दस-बारह वर्ष की अवस्था में एक अंधकूप में भयंकर विषधर का डट कर सामना किया वहाँ 'बाघ से भिडंत' भी उन्होंने एक बार की और उस हिंसक पशु का ग्रास बनने से बाल-बाल बचे। शिकार-साहित्य के जन्म-दाता के रूप में वह हिन्दी-जगत में विख्यात हैं। उनका शिकार-साहित्य अनुभवजन्य है। दीर्घ बीमारी के पश्चात् १९६७ में उनका स्वर्गवास हो गया।

साहित्य-साधना—श्रीराम शर्मा ने शिकार-साहित्य पर अत्यन्त भावपूर्ण और रोमांचकारी लेख तथा पुस्तकें लिखीं। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के कारण स्वदेश प्रेम की भावना आत्मबलिदान की प्रेरणा देती है और शिकार-साहित्य में उनके पशु-मनोविज्ञान के पारखी होने का प्रमाण मिलता है। इस विषय पर उनके शोधपूर्ण, ज्ञानवर्धक और भावोत्तेजक लेख महत्वपूर्ण हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा उनके शिकार विषयक लेखों की बहुत प्रशंसा करते थे। बाल-प्रकृति एवं बाल-चेष्टाओं को उनकी कहानियों में देखा जा सकता है।

उनकी भाषा कवित्वपूर्ण और शैली ओजस्विनी है। भाषा में ऐसा प्रवाह और शैली ऐसी प्रभावशाली कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। उनकी शैली की अपनी एक विशिष्टता है। कुछ ऐसा अनूठा चित्र वर्ण्य विषय का पेश करते कि पाठक दंग रह जाता है। प्रकृति-चित्रण की सजीवता, आलंकारिक भाषा, बीच-बीच में उर्दू शायरों की कविता के अवसरानुकूल उद्धरण, ग्राम्य शब्द-योजना का लालित्य उनकी शैली की विशेषताएँ हैं। 'सन् बयालीस के संस्मरण' और 'सेवाग्राम की डायरी' आत्मकथात्मक है, उनमें राष्ट्रीय आन्दोलन की सुस्पष्ट झाँकियाँ मिलती हैं। शिकार, प्राणों का सौदा, जंगल के जीव आदि शिकार-विषय रोमांचकारी रचनाएँ हैं। प्रवाहपूर्ण और मुहावरेदार भाषा में शब्दों के द्वारा अनुपम चित्र उपस्थित कर वह पाठकों के कुतूहल को आद्यन्त बनाये रखते हैं।

रचनाएँ—शिकार, बोलती प्रतिमा, प्राणों का सौदा, जंगल के जीव, सेवाग्राम की डायरी, झाँसी की रानी, सन् बयालीस के संस्मरण, जीवन-प्रण, संघर्ष और समीक्षा आदि।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

जन्मस्थान—ममरैल जि० उन्नाव (उ० प्र०)

जन्म—सन् १६०६

निधन—सन् १६६७

जीवन-वृत्त—शुक्लोत्तर युगीन आलोचकों में नन्ददुलारे वायपेजी का नाम शीर्षस्थ है। उन्होंने शुक्ल के आलोचना-पथ को कुछ अधिक प्रशस्त किया, उसे नया मोड़ दिया तथा शुक्ल जी की कमियों का उल्लेख करते हुए अपनी मौलिक मान्यताएँ स्थापित कीं। उनका जन्म ग्राम ममरैल (जि० उन्नाव) में हुआ, बचपन बीता हज़ारीबाग़ (बिहार) में और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से हिन्दी में प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास किया। कुछ समय तक प्रयाग से निकलने वाले दैनिक पत्र 'भारत' का सम्पादन किया। 'सूरसागर' तथा 'रामचरितमानस' का भी उन्होंने सम्पादन किया था। काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के पद पर कार्य किया, फिर सागर विश्वविद्यालय (म० प्र०) में हिन्दी विभागाध्यक्ष हो गये और बड़ी योग्यता से विभाग का संचालन किया। फिर विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे और सन् १६६७ में उनका देहावासन हुआ।

साहित्य-साधना—वाजपेयी जी ने भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों का गहन अध्ययन किया था। साहित्य की विविध रचनाओं, शैलियों तथा वादों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक भावभूमियों पर व्यापक अध्ययन किया और इसी के आधार पर एक नवीन समीक्षा-पद्धति की प्रतिष्ठापना की। छायावाद की समीक्षा उनकी पूर्णतः नवीन तथा मौलिक है। लेकिन वह ऐसे लेखक नहीं थे जो किसी 'वाद' या 'मत' के प्रतिबद्ध हों। अतः उनकी समीक्षा प्रकृत, शुद्ध तथा पूर्वाग्रहमुक्त है। उनके निबन्ध समीक्षात्मक अधिक हैं और समीक्षा पूर्णतः वैज्ञानिक है। उनके समीक्षात्मक निबन्धों की यह विशेषता है कि समीक्षा के साथ प्रवृत्तियों का द्योतन भी वहाँ मौजूद रहता है। प्रवृत्तियों के विश्लेषण से प्रतिपाद्य पाठकों के लिए सहज हो गया है। वह एक उच्चकोटि के विचारक थे और स्वभाव से बहुत ही मृदुल और विनम्र थे। सभी से प्रसन्न-वदन एवं पूर्ण आत्मीयता के साथ मिलते थे।

उनकी भाषा है तो परिनिष्ठित एवं पाण्डित्यपूर्ण, लेकिन किसी भी रूप में उसे हम दुरूह नहीं कह सकते। विश्लेषण पद्धति ऐसी है कि आप से आप ही वर्ण्यविषय हृदयंगम होता जाता है। शब्दों का चयन आकर्षक तथा वाक्य-योजना सुगठित है। समृद्ध भाषा लिखने से उनके व्यक्तित्व की गरिमा का पता चलता है। उनकी स्पष्टभाषिता सराहनीय है। इससे उनके निबन्धों में विशेष नयापन आ गया है।

रचनाएँ—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, आधुनिक साहित्य, नया साहित्य—नये प्रश्न, महाकवि सूरदास, आदि।

रामधारीसिंह दिनकर

जन्मस्थान—गाँव सिमरिया, जि० मुंगेर (बिहार)

जन्म—१९०८ ई०

निधन—२४ अप्रैल १९७४ ई०

जीवन-वृत्त—रामधारीसिंह दिनकर ने राष्ट्रकवि के रूप में ख्याति अर्जित की। राष्ट्रीय चेतना के वह प्रबल उद्घोषक थे। उनकी रचनाओं में जहाँ हृदय को दहलाने वाली हुंकार है वहाँ प्राचीन और आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में उनकी अपनी विचारधारा प्रवहमान है। उनका जन्म एक साधारण किसान परिवार में हुआ था। मोकामा घाट से उन्होंने हाईस्कूल की परीक्षा पास की और बी० ए० पास करने के पश्चात् एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में प्रधानाध्यापक हो गये। बाद में वह सब रजिस्ट्रार (अवर निबंधक) और प्रचार विभाग में उपनिदेशक भी रहे। मुज़फ़्फ़रपुर में लंगरी सिंह पोस्ट ग्रेजुएट कालेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष हो गये। १९५२ में संसद के सदस्य मनोनीत किये गये। इसके पश्चात् भारत सरकार के गृहविज्ञान में हिन्दी सलाहकार के रूप में कई वर्षों तक कार्य किया और हिन्दी के प्रचार-प्रसार में काफ़ी योग दिया। वह एशिया कवि-सम्मेलन में जापान गये, और भी कई देशों का उन्होंने भ्रमण किया। 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक पर साहित्य अकादमी का पाँच हज़ार रु० का पुरस्कार १९५६ में प्रदान किया गया। १९५९ में भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' का अलंकार प्रदान

कर सम्मानित किया। सन् १९६२ में भागलपुर वि० वि० ने उन्हें डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। उसी विश्वविद्यालय में वह कुछ समय के लिए उप-कुलपति भी रहे। १९७१ में उन्हें ज्ञानपीठ का एक लाख रु० का पुरस्कार उर्वशी पर प्रदान किया गया। उनकी असामयिक मृत्यु १९७४ में हृदयगति बन्द हो जाने से मद्रास में हुई, जहाँ वह एक कवि सम्मेलन में गए थे। पूरे सरकारी सम्मान के साथ उनके शव का उनके गाँव में दाह-संस्कार किया गया।

साहित्य-साधना—यह माना कि दिनकर जी कवि के रूप में ही अत्यधिक लोकप्रिय हैं परन्तु उनकी गद्य-कृतियाँ भी काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। उनकी गद्य-कृतियों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वह कितने सुलझे हुए विचारक और मनीषी थे। उनका गद्य साहित्य अत्यन्त सजीव, स्फूर्तिमय और राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक भावों-विचारों से परिपूर्ण है। गांधीवाद की सफल अभिव्यक्ति उसमें दर्शनीय है। दिनकर जी भाषा तथा शिल्पी के धनी कलाकार हैं। उनका सूक्ष्म चिंतन तार्किक शैली में व्यक्त हुआ है। भाषा सहज और प्रवाहमयी है। विषयों की विविधता, शैली की तर्कमय प्रांजलता सर्वत्र विराजमान है। काव्य, संस्कृति, समाज, राष्ट्रीय चेतना, युगबोध, आधुनिकता आदि विषयों पर उन्होंने उत्कृष्ट निबन्ध लिखे हैं।

आलोचक, विचारक, निबन्धकार के रूप में दिनकर जी का हिन्दी गद्य में एक उल्लेखनीय स्थान है। व्यावहारिक भाषा-शैली में वह विषय-प्रतिपादन मौलिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप में करते हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' में उन्होंने भारतीय संस्कृति, दर्शन, साहित्य सभी को मथ डाला है। बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, निर्गुण भक्ति, भक्ति आन्दोलन क्या नहीं है उसमें। मुस्लिम संस्कृति का अच्छा ज्ञान भी उन्हें था, इसका परिचय उक्त पुस्तक का अध्ययन करने से सहज ही लगाया जा सकता है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि डॉ० इक़बाल पर एक विस्तृत अध्याय उस ग्रन्थ में दिया गया है जिसमें उन्होंने अपनी दृष्टि से उस महान कवि को परखने का प्रयत्न किया। "धर्म, नैतिकता और विज्ञान" आकार में छोटी अवश्य है लेकिन चिन्तन पक्ष उतना ही गहन है। 'अर्द्धनारीश्वर', 'मिट्टी की ओर' उनकी अच्छी गद्य-कृतियाँ हैं। 'चक्रवाल' में उनकी कविताओं को संकलित किया गया है, परन्तु उसकी भूमिका भी सारगर्भित और पठनीय है। 'दिनकर की डायरी' में उनकी विशिष्ट गति-विधियों की झलक

प्राप्य है। 'आधुनिकता' नामक पुस्तक में आधुनिक युग-बोध को समझाने का उन्होंने सफल प्रयास किया है।

दिनकर में भाषा-शैली का कृत्रिम रूप कहीं नज़र नहीं आयेगा। वह राजनीति में ज़रूर रहे, लेकिन साहित्य के देवता के परम उपासक होने के कारण उन पर राजनीति का कालुष्य अभिमंडित न हो सका। निष्कपट, सुलझी हुई बात कहने में उन जैसी निर्भीकता कम लोगों में देखने को मिलेगी। स्वभाव से हंसमुख और मिलनसार थे। कवि सम्मेलनों में खूब गरज-गरज कर अपनी कविताओं का पाठ करते थे, मालूम होता था जैसे सिंहगर्जन कर रहा हो। भारी भरकम शरीर, ऊँचा क़द, प्रभावशाली चाल, धोती-कुर्ता यही था उनका बाह्यरूप। ऐसा ही प्रभावशाली उनका कृतित्व है—ठीक उनके व्यक्तित्व के अनुरूप। उन्होंने उर्दू, फारसी और संस्कृत के शब्दों का भी यथास्थान उचित प्रयोग किया है।

जीवन, साहित्य, राजनीति, संस्कृति, विज्ञान, युगबोध सभी कुछ उनके साहित्य में व्यापक विषय के रूप में स्वीकृत हैं। राष्ट्रीयता तथा प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा पर उनका अडिग विश्वास रहा है।

रचनाएँ

काव्य—हुंकार, सामधेनी, रसवन्ती, रश्मिरथी, कुरुक्षेत्र, परशुराम की प्रतीक्षा, उर्वशी आदि।

गद्य—मिट्टी की ओर, अर्धनारीश्वर, संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर की डायरी, शुद्ध कविता की खोज, आधुनिकता।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

जन्मस्थान—देवबन्ध, (सहरनपुर)

जन्म—१९०६ ई०

जीवन-वृत्त—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' वयोवृद्ध साहित्यकार हैं। उन्होंने अपना जीवन पत्रकारिता से आरम्भ किया। 'विकास', 'विश्वास', 'विश्व-ज्ञान', 'ज्ञानोदय' तथा 'नया जीवन' का सम्पादन किया और आजकल भी सहारनपुर

(उ० प्र०) से 'नया जीवन' नामक मासिक पत्रिका निकाल रहे हैं। उनका व्यक्तित्व देश-प्रेम से ओतप्रोत है। स्वतन्त्रता-आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया और सन् १९४२ के आन्दोलन में जेल यात्रा भी की। क्वेटा भूकम्प पर संपादकीय टिप्पणी से सरकार क्रुद्ध हो गई थी, फलस्वरूप 'विकास' बन्द करना पड़ा। राष्ट्रीय चेतना उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रमुख विशेषता है। सम्प्रति 'नया जीवन' (मासिक) और 'नया विकास' (दैनिक) का सम्पादन तथा प्रकाशन साथ-साथ कर रहे हैं।

साहित्य-साधना—मिश्र जी हिन्दी के विशिष्ट शैलीकार हैं। उन्होंने हिन्दी-गद्य को नयी शैली और नए प्रयोग दिये। उनकी गद्य-शैली में एक नवीन आकर्षण विद्यमान है। शैली का यह नयापन उनके उद्बोधक लेखों, संस्मरणों या स्कैच में स्पष्ट दृष्टिगत होता है। उनसे पाठकों को एक नई चेतना और स्फूर्ति मिलती है। स्कैच लिखने में प्रभाकर जी की लेखनी बेजोड़ है, उन्हें तो बार-बार पढ़ने को दिल करता है। उनकी रचनाओं में चरित्र-निर्माण का गुण सर्वोपरि है। पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख सामयिक समस्याओं एवं घटनाओं को गहराई से छूते हैं और वे सोद्देश्य होते हैं तथा एक रचनात्मक दृष्टिकोण उनमें अपनाया जाता है। 'शोइबुल्ला खान' पर रिपोर्ताज की शैली में लेख सुन्दर है। सरल अभिव्यक्ति के साथ भावप्रवण बात कहना उनका स्वभाव है। हास्य-व्यंग्य तथा मुहावरेदार शैली उनकी सभी रचनाओं में देखी जा सकती है।

जहाँ आवश्यक समझा वहाँ उद्धरण भी देते चलते हैं, इससे उनकी बात में अधिक बल और शैली में एक आकर्षण आ गया है।

रचनाएँ—आकाश के तारे, धरती के फूल, जिंदगी मुस्काई, माटी हो गई सोना, बाजे पायलिया के घुँघरू, दीप जले शंख बजे, महके आंगन : चहके द्वारा, कण बोले : क्षण मुस्काये, बूंद-बूँद सागर लहराया, भूले हुए चेहरे इत्यादि उनकी उत्तम रचनाएँ हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

जन्मस्थान—ग्रा० ओझवलिया (जि० वलिया, उ० प्र०)

जन्म—सन् १९०७

जीवन-वृत्त—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म बलिया जिले के अन्तर्गत

ओझवलिया नामक गाँव के सरयू पारीण ब्राह्मण कुल में सन् १९०७ में हुआ था। उनके पिता पं० अनमोल द्विवेदी प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। उनके पितामह पं० आरत दुबे भी विख्यात ज्योतिषी थे। अतः उनका पारिवारिक वातावरण ज्योतिषज्ञान से परिपूर्ण था, फलतः हजारीप्रसाद जी ने ज्योतिषाचार्य की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा वसरियापुर में हुई और वहाँ से मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण कर काशी में संस्कृत पढ़ने चले गये। यहाँ ज्योतिषाचार्य की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और इंटर भी पास किया। परन्तु अस्वस्थ रहने के कारण बी० ए० न कर सके। इसके पश्चात् वह शांतिनिकेतन चले गये और वहाँ लगभग २० वर्षों तक हिन्दी का अध्यापन कार्य करते रहे। विश्व कवि रवीन्द्र और आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रोत्साहन से इनकी साहित्यिक प्रतिभा को चमकने का अवसर मिला। उन्होंने बंगला, पालि, अपभ्रंश, प्राकृत, अंग्रेजी भाषाएँ सीखीं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी से भी उन्हें काफ़ी प्रेरणा मिली। शांतिनिकेतन के बाद उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य किया। उसके पश्चात् पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में भी हिन्दी के विशेष प्रोफेसर के पद पर कार्य किया। आजकल आप बनारस वि० वि० में 'रेक्टर' के पद पर आसीन हैं। लखनऊ वि० वि० ने उनकी साहित्यिक सेवाओं को देखते हुए उन्हें डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया। इन्दौर में "सूर साहित्य" पर स्वर्णपदक प्रदान किया गया और उनकी प्रसिद्ध रचना 'कबीर' पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया गया। उनके निबन्ध-संग्रह 'आलोक पर्व' पर साहित्य अकादमी का पाँच हज़ार रु० का पुरस्कार प्रदान किया गया। भारत-सरकार ने उनकी साहित्य-सेवाओं को देखते हुए उन्हें सन् १९५७ में पद्मभूषण का अलंकरण प्रदान क़िया।

साहित्य-साधना—द्विवेदी जी उच्च कोटि के आलोचक और निबन्धकार हैं। एक विचारशील साहित्य के रूप में उन्होंने भारतीय संस्कृति, ज्योतिष, साहित्य, धर्म-भक्ति को अपने अध्ययन-चिंतन-मनन का विषय बनाया। संस्कृत-साहित्य और रवीन्द्र साहित्य की उन पर अमिट छाप पड़ी। 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' और 'कबीर' पर उन्होंने नवीन गवेषणात्मक सामग्री प्रदान की है और तत्सम्बन्धी अनेक संदेहों का निराकरण किया है। विषय का सरल,

९

सुबोध तथा तर्क-सम्मत विश्लेषण उनकी विशेषता है कहीं-कहीं अधिक गम्भीरता के कारण विश्लेषण में दुरूहता आ गई है। उनका सिद्ध-नाथपंथियों का अध्ययन सूक्ष्म और व्यापक है। प्राकृतिक ज्ञान भी उनका विस्तृत है।

उनके निबन्ध विचारात्मक और आलोचनात्मक हैं। इन निबन्धों में उनकी व्यापक जीवन-दृष्टि, विचार-गाम्भीर्य, सुसम्बद्ध विचार श्रृंखला विद्यमान है। विषय के प्रतिपादन में मौलिकता और बौद्धिकता की स्पष्ट झलक है। लेकिन भावुकता का माधुर्य भी कम नहीं। न जाने कितने पौराणिक प्रसंग, दृष्टान्त उनके निबन्धों में समाविष्ट हैं। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें पौराणिक साहित्य का या प्राचीन संस्कृत-साहित्य का कितना गंभीर और व्यापक ज्ञान है। अतः उनके निबन्धों को हम साहित्यिक, साँस्कृतिक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। उनके निबन्धों में वहाँ अधिक रमणीयता आ जाती है जहाँ उनके अपने निजी अनुभवों का समावेश है। उन्हें हम गवेषणात्मक शैली का प्रवर्तक कह सकते हैं। भारतीय संस्कृत-सम्बन्धी निबन्धों में इसी शैली के दर्शन होते हैं। अपभ्रंश साहित्य, सिद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य पर इसी शैली में प्रकाश डाला गया है। हिन्दी भक्त-साहित्य को पूर्णतः हृदयंगम करने में उनका विशिष्ट योगदान है। उनके निबन्ध व्यावहारिक भी हैं और सैद्धांतिक भी हैं। साहित्य के विभिन्न रूपों पर उन्होंने शास्त्रीय ढंग से विचार किया है तथा साहित्यकारों की कृतियों का आलोचनात्मक विवेचन किया है और यहाँ आचार्य जी के सर्वथा गम्भीर तथा पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व की पूर्ण छाप पड़ी है। भावुकता या उदारता उनके निबन्धों को शुष्क होने से बचाये रखती है। सार और तत्व को पकड़ने की उनके पास अनोखी दृष्टि है। उनके ललित या काल्पनिक निबन्ध हिन्दी में अपना एक विशेष महत्व रखते हैं। जहाँ शुक्ल जी की शैली गुंफित है वहाँ द्विवेदी जी की शैली विशद और व्यापक है। जहाँ शुक्ल जी की शैली में हास्य-व्यंग्य के कारण सजीवता दृष्टिगोचर होती है वहाँ द्विवेदी जी की शैली में बौद्धिकता और विचारशीलता का आधिक्य है। लेकिन वह कहीं-कहीं अलंकृत और काव्यात्मक है जैसे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में या 'चारुचन्द्रलेख' में।

द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित और प्रांजल है। उसमें संस्कृत शब्दावली का अद्‌भुत प्रवाह है। वहाँ बंगला की कोमलता और मधुरता है। उनकी शब्द-योजना में एक विशेष लालित्य है, प्रभावोत्पादकता है। वह भावानु-

गामिनी और पाण्डित्यपूर्ण है, लेकिन मुहावरों का प्रयोग उन्होंने कम ही किया। यों जहाँ-तहाँ उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी किया है। देशज शब्दों का प्रयोग भी उनके यहाँ मिलता है। शोक, ईमानदारी, काबू, मैजिक, दाव-पेच, नोच-खसोट इसी प्रकार के शब्द हैं। अपनी बात को वह विस्तारपूर्वक कहते हैं, अतः वाक्य लम्बे हैं परन्तु हैं सुसम्बद्ध और पुनरुक्ति दोष कहीं नहीं मिलता। भाषा सर्वथा साहित्यिक है।

रचनाएँ—(i) कबीर, सूर साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, नाथ सम्प्रदाय, हिंन्दी साहित्य का आदिकाल, आदि आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं।

(ii) अशोक के फूल, विचार के प्रवाह, कुटज, कल्पलता, आलोक पर्व, मध्यकालीन युगबोध निबन्ध संग्रह हैं।

(iii) वाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख उपन्यास हैं।

(iv) सिद्धों की बानियाँ, पृथ्वीराज रासो सम्पादित ग्रन्थ हैं।

महादेवी वर्मा

जन्मस्थान—फरुखाबाद (उ० प्र०)

जन्म—सन् १९०७

जीवन-वृत्त—महादेवी वर्मा आधुनिक हिन्दी कवयित्रों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका गद्य-साहित्य शब्द-चित्र या रेखाचित्र की दृष्टि से भी सर्वोत्तम है। कहना चाहिए कि रेखाचित्र में उनका कोई मुकाबला नहीं। उनका जन्म फरुखाबाद के एक सम्पन्न तथा सम्भ्रान्त परिवार में सन् १९०७ में हुआ था। उनके पिता का नाम गोविन्द प्रसाद वर्मा और माता का नाम श्रीमती हेमरानी देवी था। पिता भागलपुर के एक विद्यालय में प्रधानाचार्य थे। माता जी के आदर्श, आस्तिक, निष्ठावान चरित्र ने महादेवी को कविता की ओर प्रेरित किया। ११ वर्ष की अल्पायु में ही उनका विवाह बरेली के निवासी डा० रामस्वरूप नारायण के साथ हो गया था। उस समय वह छटी-सातवीं में ही थीं। विवाहोपरन्त अध्ययन का क्रम टूट गया, क्योंकि उनके श्वसुर स्त्री-शिक्षा के कट्टर विरोधी थे। उनके देहान्त के पश्चात् महादेवी की शिक्षा पुनः जारी की गई। हाईस्कूल की शिक्षा उन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की। प्रयाग विश्वविद्यालय से उन्होंने संस्कृत में एम० ए० प्रथम श्रेणी में रहकर पास किया। काफी समय

से वह प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्य हैं। 'चाँद' नामक पत्रिका का भी उन्होंने सम्पादन किया था। उन्हें 'सेक्सरिया' और 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया। संगीत और चित्रकला में भी उन्हें अत्यधिक रुचि है। उत्तर प्रदेश सरकार ने उन्हें विधान परिषद की सम्मानित सदस्या मनोनीत किया था। भारत सरकार ने उन्हें पद्मभूषण के अलंकरण से अलंकृत भी किया है।

साहित्य-साधना—गद्य साहित्य की नई विधा रेखाचित्र में महादेवी के गद्य का सर्वोत्कृष्ट रूप उपलब्ध है। इन रेखाचित्रों में करुण रस का अजस्र स्रोत उमड़ता हुआ परिलक्षित होता है। संपीड़ित मानव एवं पशुओं के अनेक स्नेहिल एवं सहानुभूतिमय चित्र देखे जा सकते हैं, जहाँ महादेवी के कोमल, भावपूर्ण और कवित्वमय हृदय की करुण अनुभूति की सहज अभिव्यंजना है। इसमें संदेह नहीं कि गद्य पर महादेवी का कवि-हृदय हावी है, वही चित्रात्मकता, वही कल्पनाशीलता और वही बिम्बयोजना। शब्दों का चयन बड़ी ही कुशलता और कलात्मकता से किया गया है। मालूम होता है महादेवी जी प्रत्येक शब्द की पूर्ण शक्ति को, उसके पूर्ण प्रभाव को बखूबी समझती हैं तभी तो ऐसी सुन्दर, सार्थक, सारगर्भित शब्द-योजना में सफल हुई हैं जिससे किसी दृश्य का, वस्तुविशेष का जीता-जागता चित्र नेत्रों के सामने थिरकने लगता है। उनके गद्य का स्तर काफी ऊँचा है, उसमें प्रौढ़ता और गाम्भीर्य है। उसे हम परिष्कृत गद्य की ही श्रेणी में रखेंगे। कहीं-कहीं तो ऐसे बिम्बग्राही शब्द-चित्र देखने को मिलते हैं कि पाठक की बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। ऐसी प्रशस्त, प्रकृत, अकृत्रिम गद्य है उनका कि उसकी प्रशंसा करते जी नहीं अघाता। उसका सबसे बड़ा कारण उनकी मार्मिक अभिव्यंजना कौशल है। भाषा जरूर संस्कृत-निष्ठ है लेकिन सरस और प्रभावोत्पादक शैली ने उसकी सारी दुर्बोधता, दुरूहता और शुष्कता समाप्त करदी है। उनके रेखाचित्र जीवन की चित्रात्मक अभिव्यक्ति हैं। प्रकृति का चित्रण मानवीय संवेदना की भूमि पर अंकित किया गया है जिनमें असीम आत्मीयता, ममता और स्नेहशीलता के सुमन पग-पग पर विकसित हैं। महादेवी वर्मा का गद्य-साहित्य तीन श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—

(१) संस्मरणात्मक रेखाचित्र, (२) आधुनिक नारीविषयक समस्याओं पर विचार प्रधान निबन्ध, (३) विवेचनात्मक निबन्ध साहित्य।

'अतीत के चलचित्र' में दीन-दुखी, संतप्त-पीड़ित व्यक्तियों का करुणासिक्त चित्रण है। वह एक कुशल चित्रकारिणी हैं और जिस प्रकार नाना रंगों से एक चित्ताकर्षक चित्र तैयार कर देती हैं उसी प्रकार नाना शब्दों से भी चित्र अंकित करने की क्षमता रखती हैं। उनके रेखाचित्रों में कथात्मकता का गुण भी विद्यमान है। वे कहानी ही जैसे रोचक तथा सरस हैं। उनका विवेचनात्मक निबन्ध साहित्य कुछ गंभीर है और उससे लेखिका के चिन्तन-पक्ष का रूप उभरकर सामने आता है। कहीं-कहीं उनका आक्रोशभरा रूप भी व्यक्त होता है जो केवल शोषकों तथा अत्याचारियों पर ही प्रकट किया गया है। उनके गद्य का प्रमुख गुण है करुणा की तीव्र अनुभूति। पद्य हो या गद्य हो करुणा समान रूप से मिलेगी। यह उनके साहित्य का मेरुदण्ड है। संस्मरणों तथा रेखाचित्रों में ऐसे करुणाप्यायित प्रसंग हैं कि पाठक का हृदय द्रवित हो जाता है, नेत्र सजल हो जाते हैं।

भाषा तत्सम शब्दावली से युक्त है उसे संस्कृत-शब्द बहुल भी कहा जा सकता है। उसमें स्वभाविकता, नाटकीयता की मात्रा काफी है इसलिए वह बोझिल नहीं। उनका गद्य भावुक शैली में रचा गया है, विवेचनात्मक और वर्णनात्मक शैली का प्रयोग बराबर किया गया है। भाषा और शैली पूर्णरूप से उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है न कोई शब्दाडम्बर, न कोई कृत्रिमता। उनकी चित्रात्मकता और कल्पनाशीलता देखकर बड़ा सुखद आश्चर्य होता है। उनके शब्दों का चयन अनूठा, वाक्य-विन्यास कलात्मक है। भाषा पूर्णरूप भावाभिव्यक्ति में सक्षम है। 'मेरा परिवार' में महादेवी की संवेदना, ममता सभी कुछ पालतू पशुओं के प्रति अभिद्रवित है।

रचनाएँ—गद्य—स्मृति की रेखाएँ, अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ, पथ के साथी, क्षणदा, मेरा परिवार।

गद्य—नीहार, रश्मि, नीरज, सांध्यगीत, दीपशिखा।

डा० नगेन्द्र

जन्मस्थान—अतरौली (जि० अलीगढ़)

जन्म—सन् १९१५

जीवन-वृत्त—डा० नगेन्द्र नागाइच का जन्म २४ मार्च, सन् १९१५ को

अतरौली (जि० अलीगढ़) में हुआ था। उन्होंने आगरा तथा नागपुर विश्वविद्यालयों से अंग्रेजी तथा हिन्दी में एम० ए० किया। 'रीति साहित्य और देव' नामक ग्रन्थ पर उन्हें आगरा वि० वि० ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। दस वर्षों तक वह कॉमर्स कॉलेज दिल्ली में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। फिर दिल्ली विश्वविद्यालय में पहुँचे और वहाँ कितने ही वर्षों तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर के पद पर काम करते रहे। आजकल भी वहीं हिन्दी के प्रोफेसर हैं। उनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ कविता से हुआ था और सन् १९३८ में 'वनमाला' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ था। लेकिन उनका सही स्थान कविता न होकर आलोचना था, अतः उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया और हिन्दी की अविस्मरणीय सेवा के प्रतीक-रूप में कई एक महान ग्रन्थों की रचना की।

साहित्य-साधना—डा० नगेन्द्र हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् हिन्दी को ऐसा महान आलोचक मिला यह उसके सौभाग्य की बात है। भारतीय काव्यशास्त्र का उन्होंने गहन अध्ययन किया है और इसके साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के भी वह विशेष ज्ञाता हैं। 'रस सिद्धान्त' उनकी महत्वपूर्ण रचना है जिस पर साहित्य अकादमी का पाँच हजार रु० का पुरस्कार भी प्रदान किया जा चुका है। यों तो उनके 'वनमाला' और 'छन्दमयी' नामक कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं परन्तु कवि के रूप में उनका कोई नाम नहीं जानता। हाँ, आलोचना की जहाँ बात आती है वहाँ एक दम से डा० नगेन्द्र का नाम जबान पर आ जाता है। आधुनिक आलोचना डा० नगेन्द्र के बिना अपंग है। आलोचक और निबन्धकार के रूप में उन्हें अमिट यश प्राप्त हुआ है और उनकी लेखनी आज भी रचनात्मक कार्य में अबाध गति से अग्रसर है, यह हिन्दी साहित्य के लिए परम सौभाग्य की बात है।

डा० नगेन्द्र की चिन्तनधारा फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र से काफी प्रभावित है इसलिए उनकी समीक्षा में मनोविश्लेषणात्मक तथा मनोवैज्ञानिक शैली का रूप स्पष्ट उभरा हुआ है। उनकी आलोचनाएँ उनकी विद्धत्ता तथा प्रतिभा का प्रतिबिम्ब हैं। काव्यशास्त्रीय विषयों पर उनेक मौलिक विचार हैं और उनके द्वारा हिन्दी आलोचना का मार्ग न केवल प्रशस्त हुआ है बल्कि उसमें कई-एक नये मोड़ भी आये हैं। उनकी आलोचना में प्राचीन

और आधुनिक दोनों पद्धतियों का खूब मन्थन किया गया है और उससे एक नई समन्वयात्मक शैली का नवनीत हाथ लगा है। प्राचीन काव्यसमीक्षा रसवादी है और आधुनिक नवीन काव्यसमीक्षा वैज्ञानिक है। दोनों का समन्वय नगेन्द्र की काव्यसमीक्षा है। उन्होंने अपनी समीक्षात्मक कृतियों में भारतीय काव्यशास्त्री की काव्यानुभूति को विशेष महत्व दिया है। कवि या रचनाकार की मानसिक स्थिति का सामाजिक तत्वों के परिप्रेक्ष्य में गम्भीरता से विश्लेषण किया है। उनकी आलोचना में दर्शन और मनोविज्ञान दोनों का अद्भुत मिश्रण है। आधुनिक कविता, नाटक, उपन्यास पर जहाँ उन्होंने एक साहित्य-वेत्ता और विचारक के रूप में समीक्षा प्रस्तुत की वहाँ देव जैसे प्राचीन कवि का विद्वत्तापूर्ण अनुशीलन भी किया है।

उनकी शैली गम्भीर और तथ्यप्रधान है जिसमें आलोचक की तार्किक दृष्टि दर्शनीय है। नपेतुले, चुस्त, संयत शब्दों में वह अपने भावों को लपेटकर सुचारु और बोधगम्य रूप में अंकित करते हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में इसी प्रकार की भाषा और शैली का प्रयोग किया है। उनकी शैली गवेषणात्मक है, वह नई खोज या मौलिक विचार-तन्तुओं को पेश करती है। उनके निबन्धों में विषय का व्यावहारिक मूल्यांकन किया गया है। उनमें विचारों की सूक्ष्मता और संश्लिष्ट काव्य-योजना दर्शनीय है। यहाँ बौद्धिकता अधिक है, क्योंकि निबन्ध और आलोचना दोनों ही चिन्तनप्रधान हैं। पारिभाषिक शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया गया है, इसलिए कुछ जटिलता आना स्वाभाविक है। जहाँ आवश्यक समझा उर्दू शब्दों को भी अपनाया गया है, लेकिन बहुत ही कम मात्रा में। लेखक ने अपनी अभिव्यक्ति को स्वच्छ और सुस्पष्ट बनाने के लिए उद्धरण देने में संकोच नही किया। वाक्य एवं शब्द-योजना सुव्यवस्थित है। विचारों की गम्भीरता, भाषा की प्रौढ़ता उनकी शैली के प्रमुख गुण हैं। आलोचना का रूप पूर्णतः शास्त्रसम्मत है।

रचनाएँ—साकेत—एक अध्ययन, विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, विचार और विश्लेषण, रीति काव्य की भूमिका, रीति साहित्य और देव, सुमित्रानन्दन पंत, आधुनिक हिन्दी नाटक, रस सिद्धान्त, भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, आलोचक की आस्था, आस्था के चरण, शैली विज्ञान, नयी समीक्षा नए संदर्भ, समस्या और समाधान, सियारामशरण गुप्त, भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका, मुकद्दमा-ए-शेर-ओ, शायरी (अनुवाद) आदि।

डा० विजयेन्द्र स्नातक

जन्मस्थान—नगला हरैया, अनोढ़ा (मथुरा)

जन्म—दिसम्बर, सन् १९१३

जीवन-वृत्त—डा० विजयेन्द्र स्नातक हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक और निबन्धकार हैं। उनका जन्म सन् १९१३ में मथुरा (उ० प्र०) में हुआ था। उनकी शिक्षा गुरुकुल वृन्दावन और आगरा में हुई। आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० और दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। कई एक कालेजों में हिन्दी के प्राध्यापक रहे, बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हुए, फिर रीडर और आजकल हिन्दी प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष हैं। उनके शोध प्रबन्ध "राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य" पर २१०० रु० का हरजीमल डालमिया पुरस्कार और उ० प्र० की हिन्दी समिति की ओर से ८०० रु० का पुरस्कार प्रदान किया गया।

साहित्य-साधना—डा० स्नातक की कई एक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें शोधपरक दृष्टि है। उनके निबन्ध समीक्षात्मक अधिक हैं। 'विचार के क्षण' साहित्य, भक्तितत्व और अनुसंधान के संदर्भत्रय का समवेत स्वर प्रस्तुत करने वाला विचारोत्तेजक निबन्ध संकलन है। साहित्यिक विचार-विमर्श के साथ सिद्धान्त और समीक्षा को इन निबन्धों में स्थान मिला है। गरिमामय गद्य शैली के प्रांजल एवं परिष्कृत रूप ने इस संग्रह को हिन्दी निबन्ध साहित्य में गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। भक्तिविषयक निबन्धों में गवेषणा और अध्ययन प्रसूत नवनीत पाठक को पठनीय सामग्री प्रदान करता है। हिन्दी अनुसंधान का निर्भीक और तटस्थ आकलन इस संग्रह की उल्लेखनीय विशेषता है।"

'चिंतन के क्षण' दूसरा उच्चकोटि का निबन्ध-संग्रह है। इसके विषय में लेखक ने कहा है, "इन लेखों में मैंने स्वतन्त्र चिन्तन-पद्धति से अपने विचार व्यक्त किये हैं। शास्त्र-वचन अथवा विद्वानों के अभिमत जानबूझकर उद्धृत नहीं किये हैं। आज का पाठक लेखक के मन्तव्य को उसकी अपनी चिन्तन-सरणि से ही समझना पसन्द करता है। उद्धरण-प्रमाण का अतिरिक्त बोझ डालकर पाण्डित्य का आतंक उत्पन्न करना न तो मुझे अभीष्ट है और न मैं इसे लेखक की सिद्धि या उपलब्धि मानता हूँ।" उनके निबन्धों में उद्धरण तो दिये

गये हैं लेकिन बहुत ही कम। उद्धरणों की बैसाखी के सहारे उन्होंने चलने का प्रयास नहीं किया। वह तो विषय की गहराई में उतर कर, उसे खूब मथकर अपने विचार संयत रूप में पेश करते हैं। भाषा शुद्ध और प्रांजल है, लेकिन बोधगम्य है, अभिव्यक्ति में दुरूहता नहीं है। हिन्दी निबन्ध शैली के उन्नायकों तथा योग्य समीक्षक के रूप में स्नातक जी का अपना स्थान है।

रचनाएँ—महाकवि प्रसाद, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, विचार के क्षण, चिंतन के क्षण, आदर्श निबन्ध माला, कामायनी दर्शन, आदि।

हरीशंकर परसाई

जन्म—२२ अगस्त सन् १९२४

जीवन-वृत्त—गत दो दशकों से हरीशंकर परसाई ने व्यंग्यात्मक निबन्ध, कहानियाँ लिखकर हिन्दी साहित्य में अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। उन्होंने हिन्दी में एम० ए० करके कुछ वर्षों तक अध्यापन किया, परन्तु अधिक समय तक उनका मन इस व्यवसाय में न रमा और नौकरी छोड़कर स्वतंत्र रूप में लेखन-कार्य करने लगे। आजकल भोपाल में रहकर ही रचनात्मक कार्य कर रहे हैं।

साहित्य-साधना—परसाई जी को हम जनवादी लेखक कह सकते हैं। अपनी रचनाओं में वह जनता की, समाज की विषमताओं, अन्तर्विरोधों और विकृतियों पर सार्थक तथा तीक्ष्ण व्यंग्य करते हैं। समाज की स्वाभाविक प्रगति में जो भी बाधा उन्हें परिलक्षित होती है उसी पर वह चोट करते हैं। राजनीति से लेकर समाज की गली-सड़ी रूढ़ियों पर उन्होंने तीखा व्यंग्य किया है। उनकी भाषा समर्थ और प्रभावशाली है। व्यंग्य में हास्य का पुट होने के कारण उनकी रचनाओं को पढ़कर पाठकगण गदगद हो जाते हैं। भाषा मुहावरेदार और प्रवाहपूर्ण है। चाहे उपन्यास हो या कहानी हो अथवा निबन्ध हो, सभी में समाज के मिथ्याचारों और विसंगतियों का सुन्दर शैली में उद्‌घाटन किया है। हिन्दी में और भी व्यंग्य लेखक हैं परन्तु परसाई जी की अपनी एक विशिष्ट शैली है। समाज की कोई दशा ऐसी नहीं जो उनकी व्यंग्यात्मक दृष्टि में न आए। उनका व्यंग्य केवल व्यंग्य के लिए नहीं, उसके पीछे एक स्वस्थ समाज के निर्माण की मूक प्रेरणा है।

रचनाएँ—हँसते हैं रोते हैं, तब की बात, तट की खोज, ज्वाला और जल, रानी नागफनी की कहानी, भूत के पाँव पीछे, जैसे उनके दिन फिरे, सदाचार का तावीज आदि।

शब्दार्थ

१—आप

अपभ्रंश=बिगड़ा हुआ, विकृत, एक भाषा का नाम। द्योतनार्थ=प्रकट करने के लिए। तद्रूपता=समानता। स्थानापन्न=दूसरे के स्थान पर अस्थायी रूप से काम करने वाला। स्थूलांग=मोटे अंग (या शरीर) वाला। अथच=और।

२—आशीर्वाद

तबीयत भुरभुरा उठी=चित्त आनंद से उल्लसित हो उठा। लाल डिग्गी=कलकत्ते का एक स्थान। सुषुप्ति=गहरी नींद। अभ्रस्पर्शी=गगनचुम्बी। अधिष्ठाता=स्वामी। 'पंजाबी'=समाचार पत्र। अगोहे=आगे की ओर निकले सींग वाला बैल।

३—भाव

प्रत्ययबोध=भावना, विश्वास-ज्ञान। रसनेन्द्रिय=रसना, जीभ। घ्राणेन्द्रिय=नाक। प्रतीतिकाल=विश्वास के समय। बोध=काल। क्षुत्पिपासा=भूख-प्यास। आच्छन्न=छिपा, ढका। प्रच्छन्नता=आवरण। अरूपराग=अपार्थिव प्रेम। बिम्ब-ग्रहण=रूप या चित्र की कल्पना। संश्लेष=संयोग, संधि। अर्थग्रहण=केवल अर्थमात्र समझना।

४—रामकली

गलगल=एक पक्षी। पण्डुक=एक पक्षी। रंधे हुए=पके हुए। गपक लेती=झट से खा लेना या निगल जाना। प्लुत=उछलना। मिज़गाँ=पलकें।

५—गोदान और समाजवाद

आधिकारिक=मूल कथा। प्रासंगिक=सहायक कथा। औदात्य=उच्च, श्रेष्ठ। समीचीन=उचित। अन्विति=सम्बद्ध, एकता।

६—साहित्य पर विज्ञान का प्रभाव

तटस्था=गुटबंदी से पृथक । संवेदनशील=सुख-दुख की अनुभूति । संपृक्त =सम्बद्ध, सम्पर्क में आया । वांछनीय=आवश्यक । कथ्य=वर्ण्य, कहने योग्य ।

७—राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का आह्वान

आह्वान=बुलावा । प्रदत्त=दिया हुआ ।

८—हिमालय

पुरस्कर्ता=अग्रणी, पूज्य । परिपार्श्व=निकटवर्ती । उद्‌गम=जन्म । भुवन-विश्रुत=विश्व-विख्यात । मेरुदण्ड=आधार, रीढ़ की हड्डी । पगोडा=बौद्ध-मन्दिर । ऊर्ध्वमुखी=उन्नत । उत्थित=उठा हुआ, ऊँचा ।

९—सोना हिरनी

मुरज=मृदंग । ऊर्जा=बल, शक्ति । अरण्यपरिवेश=जंगली वातावरण । रोमन्थन=जुगाली । सद्यप्रसूता=अभी माँ बनी । सद्यजात=अभी उत्पन्न। मुमूर्ष अवस्था=मरणावस्था । नीवारकण=धानकण । रूँध लेते=रोक लेते । अपत्यवत=पुत्रवत । प्रत्यावर्तन=लौट आना । जनसंकुलता=जनसमूह । प्रवास =विदेशवास ।

१०—आधुनिकता और साहित्य

पर्यावरण=गँदला । पुराकाल=प्राचीनकाल । एतादृशत्व=इस प्रकार का, ऐसा । प्रत्ययात्मक=निश्चय, विश्वसनीय । उद्‌भावना=कल्पना । जैविक धरातल=जीव-स्थल । नैरन्तर्य=निरन्तरता । पूर्वग्रह=मताग्रह । कर्तव्यमूढ़= कर्तव्यविमुख—जो घबराहट के कारण कर्तव्य का निश्चय न कर सके । विकृति =कुरूपता । प्रच्छन्न=गुप्त, छिपा हुआ । पराङमुख=विमुख ।

११—गुरु नानक का भक्ति-दर्शन

प्रस्थानत्रयी=उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र । कतेव=धर्मग्रन्थ। निर्धारण =निश्चय या निर्णय । महुआ=एक वृक्ष। तितिक्षा=दुखों को सहन करने की शक्ति । कृच्छ साधना=कठिन साधाना या तप ।

१२—राग-विराग

थलथलाते हुए=तोंद (मोटा पेट) हिलाते। प्रगल्भा=वाक्शील । बुदबुदाया

=बड़बड़ाया। निषिद्ध=जिस पर रोक लगी हो। भाटा=उतार। मुस्तैदी=डटकर, सावधानी से।

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजायम्हम्।। (गीता-४,७)

(हे भारत ! जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब तब मैं स्वयं ही अवतार लिया करता हूँ।)

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। (गीता-३,६)

(जो मूढ़ हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंको रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिंतन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दाम्भिक कहते हैं।)

सम्भावित प्रश्न

१. 'आप' शब्द कितने रूपों में प्रयुक्त हुआ है ? इसके सम्बन्धों में लेखक की सूक्ष्म विवेचना क्या है ?

२. 'भारत ! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ?' इस उक्ति के आधार पर लेखक की वेदना प्रकट कीजिए ।

३. लेख के आधार पर तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थितियों का उल्लेख कीजिए ।

४. 'भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक और शील के संस्थापक हैं ।' शुक्ल जी के इस कथन की विवेचना कीजिए ।

५. भाव किसे कहते हैं ? वासना और भाव का क्या सम्बन्ध है ?

६. 'गोदान एक समाजवादी कृति है ।' इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए ।

७. 'रामकली' के आधार पर लेखक की संवेदनशीलता का वर्णन कीजिए ।

८. विज्ञान और साहित्य का क्या सम्बन्ध है ? क्या साहित्य विज्ञान का अनुचर है ?

९. 'विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ साहित्य का ह्रास होता है ?' ऐसा कहना कहाँ तक समीचीन है ?

१०. हिमालय की पौराणिक पृष्ठभूमि की ओर लेखक ने जो संकेत दिए हैं उन्हें अभिव्यक्त कीजिए ?

११. हिमालय साहित्यकारों का आकर्षण केन्द्र रहा है, क्यों ?

१२. 'महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों में करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है ।' स्पष्ट कीजिए ।

१३. 'महादेवी वर्मा का पशुओं के प्रति वही संवेदना-स्रोत प्रवहमान है जो मनुष्यों के प्रति है' इस कथन के आधार पर उनके मानवीय गुणों का वर्णन कीजिए ।

१४. आधुनिकता का क्या अर्थ है ? साहित्य और आधुनिकता में क्या पारस्परिक सम्बन्ध है ?

१५. राष्ट्रीय चरित्र से क्या अभिप्राय है ? राष्ट्र की बहुमुखी उन्नति के लिए राष्ट्रीय चरित्र की महत्ता पर प्रकाश डालिए ।

१६. 'भारत में प्रजातंत्र की पूर्ण सफलता के लिए राष्ट्रीय चरित्र का उदय प्रत्येक नागरिक में अनिवार्य है ।' इस कथन की सार्थकता प्रकट कीजिए ।

१७. गुरु नानक की भक्ति-भावना पर प्रकाश डालिए ।

१८. 'गुरु नानक का चिंतन समन्वयवादी भावना पर आधारित है ।' यह कथन कहाँ तक सही है ।

१९. 'राग-विराग' में लेखक ने समाज के जिस घिनौने रूप पर प्रखर व्यंग्य किया है उसका विशद वर्णन कीजिए ।

२०. संस्मरणात्मक निबन्ध किसे कहते हैं ? पं० श्रीराम शर्मा का संस्मरणात्मक निबन्ध साहित्य में क्या स्थान है ?

२१. रेखाचित्र किसे कहते हैं ? महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

२२. 'मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध, निबन्ध लिखने वालों में शुक्ल जी का स्थान सर्वोच्च है ।' इस कथन के आधार पर शुक्ल जी के निबन्धों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।

Vijay